संवेदना के स्वर

राजमल बोरा

नमिता प्रकाशन

६, आनंद नगर, टाउन हॉल, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

संवेदना के स्तर

राजमल बोरा

पूज्य पितामह मोहनलाल बोरा की पावन स्मृति को
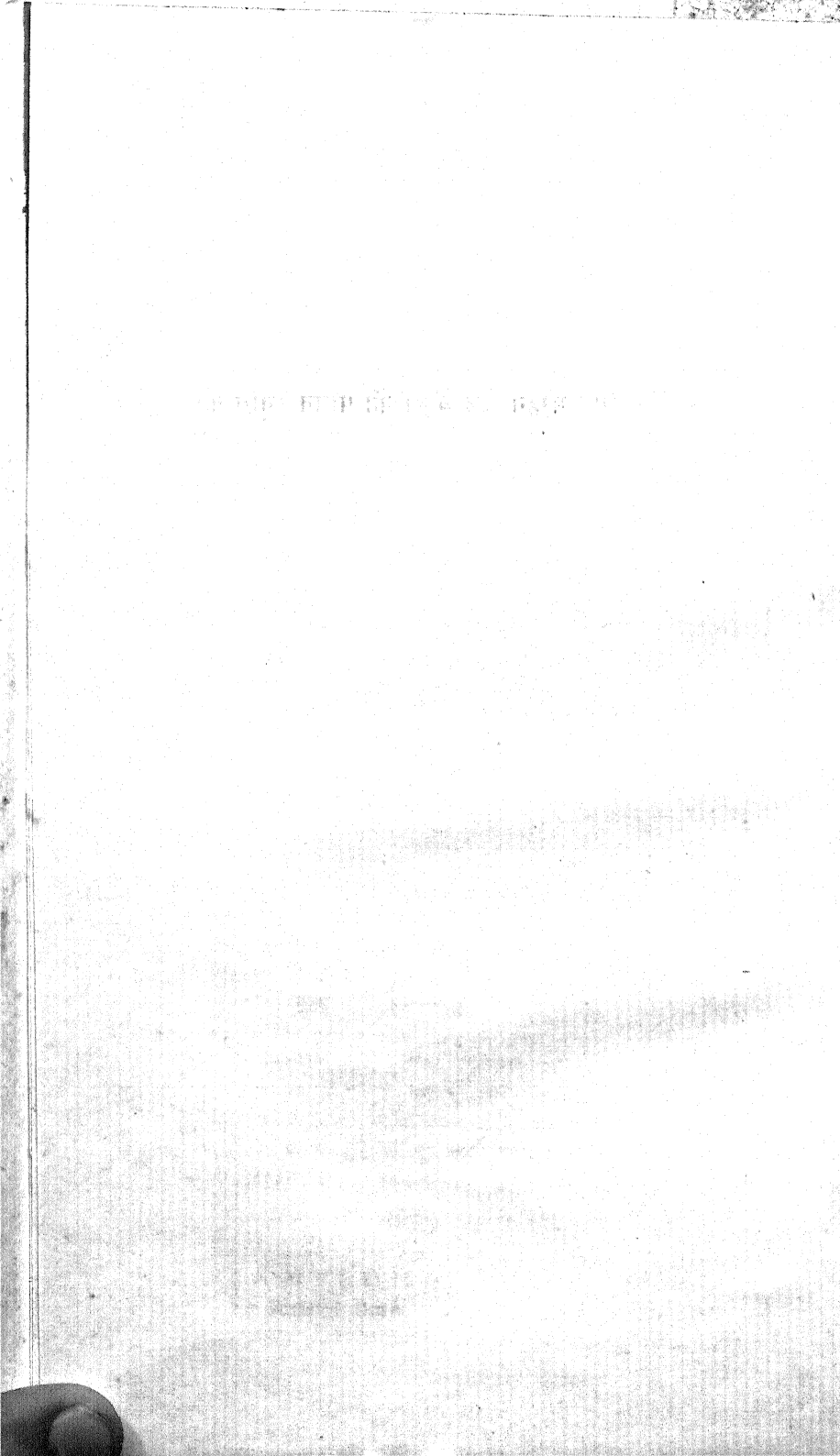
अ नु क्र म

तनाव

हम तनाव से मुक्ति चाहते हैं । तनाव से मुक्त होना जीवन को सहज बनाना है और जब तक हम सहज नहीं हो पाते, तब तक सच्चा सुख नहीं मिल सकता । हम चाहें न चाहें, आज हमें तनावों में जीना पड़ रहा है । वस्तुस्थिति यह है :-

हम तनावों में जीते हैं ।
खिंचे खिंचे,
सिकुडे सिकुडे,
बन्द-बन्द-से,
तनावों में जीते हैं ।

तनाऽऽव —
सम्बन्धों का है ।
व्यक्ति व्यक्ति के बीच,
जाति जाति के बीच,
भाषा भाषा के बीच,
प्रांत प्रांत के बीच,

राष्ट्र राष्ट्र के बीच,
गरज कि
सम्बन्धों का तनाऽऽव
हम सब के बीच हैं।
इसीलिए कहता हूँ,
हम तनावों में जीते हैं।

आज की सभ्यता –
सम्बन्धों की है।
सम्बन्धों की भाषा,
मधुर हैं,
व्यवहार मधुर है,
आदान–प्रदान मधुर है,
किन्तु भीतर कहीं कड़ुआहट है,
जो सहज लक्षित नहीं होती,
और यही तनाव है।

तनावों की वास्तविक भाषा,
मूक होती है।
और मूक रहना भी,
एक राजनैतिक चाल समझ ली जाती है।
बोलना और न बोलना,
दोनों ही,
आज की सभ्यता में,
राजनैतिक अर्थ रखते हैं।
और इस अर्थ का सम्बन्ध —
तनावों से है,
और यह तनाव सम्बन्धों का है।
इसीलिए फिर कहता हूँ,
हम तनावों में जीते हैं।

तनाव के क्षण, उद्वेगों के आकुंचन के क्षण हैं। हम जो अनुभव करते हैं, उस अनुभव की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। लगता है हमें किसी ने रोक दिया है। जैसे हम हँसते-हँसते या रोतें-रोते रुक गअे हों। जब हमारी

मनोवृत्तियाँ सहज नहीं रह पाती तब हम अपनी मनोवृत्तियों पर चिन्तन करते रहते हैं। तनाव की स्थिति में, हम निर्णय की स्थिति में नहीं होते। हमारी बुद्धि काम नहीं करती। हम स्थिति से बचना तथा कतराना चाहते हैं। इन क्षणों में साहस की कमी रहती है। यह स्थिति हम में से अनेकों की है।

इस तनाव से हम मुक्ति पा सकते हैं। इसके लिए सकारात्मक चिन्तन की आवश्यकता है। यद्यपि यह चिन्तन कठिन है किन्तु असंभव नहीं है। जीवित रहना अपने आप में महान् सुख है। और फिर यह जीवन तनावों से मुक्त हो जाए तो मानसिक बल प्राप्त होता है। प्रश्न है कि क्या यह संभव है? इसका उत्तर सकारात्मक ही हो। अर्थात् चाहे जिस प्रकार की स्थिति का सामना करना पडे और सम्बधों में चाहे जैसा तनाव हो, उससे मुक्त होने के लिए प्रयास तो किया ही जा सकता है। प्रश्न आस्था का है। जब तक हम आस्थावान नहीं होते, तब तक तनावों से मुक्ति नहीं।

तनाव सदैव दो के बीच होगा और वह सम्बन्धों को लेकर होगा। सम्बन्ध सहज होंगे तो तनाव नहीं होगा। सम्बन्धों में दिखावा होगा या कृत्रिमता होगी तो फिर तनाव होगा। जिन लोगों के बीच हम सहज होकर जीते हैं और दुराव-छिपाव नहीं रखते, उन लोगों के बीच का हमारा जीवन तनाव से मुक्त जीवन होता है। हमारे उद्वेगों पर जहाँ बंधन नहीं है अर्थात् भावों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति संभव है, तो फिर सम्बन्धों में तनाव नहीं माना जाएगा।

तनाव के कारण हमारा विकास रुक जाता है, विकास के लिए या जीवन में उन्नति करने के लिए हमें सहज रूप में जीना है। आत्मबल के अभाव में हम उन्नति नहीं कर सकते। यह आत्मबल व्यक्ति का बल है। इस बल में जीवनी-शक्ति है। इस शक्ति से तनावों को शिथिल किया जा सकता है। सम्बन्धों को सहज बनाने के लिए अपने दृष्टिकोण के साथ साथ औरों के दृष्टिकोण को भी समझना आवश्यक है। यह समझ ही सम्बन्धों को दृढ करने में सहायक हो सकती है।

तनावों के कारण वैचारिक मतभेद भी हैं। इधर जब से शिक्षा का प्रचार–प्रसार बढ़ रहा है, तब से तनावों के कारण वैचारिक रूप में मुखरित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में वैचारिक दृष्टि से आस्थावान होने की आज परम आवश्यकता है। व्यक्ति यदि आज अपना विकास करना चाहता है, तो कम–से–कम वह अपने प्रति स्पष्ट हो। उसके अपने निज के विचार हों और वह अपने विचारों के लिए अपने में आस्था जगाए रखे। हमें अपने विचारों पर

दृढ़ रहना सीखना है। इसी तरह यह भी आवश्यक है कि हम दूसरों के विचारों का आदर करें। हमें अपने विचारों से जितना लगाव है, उतना ही लगाव दूसरों को उनके अपने विचारों से है। सम्बन्धों को सहज बनाए रखने के लिए एक–दूसरे के विचारों को समझने तथा उनके सम्बन्ध में आस्था रखने की आवश्यकता है। तनाव उस समय बढ़ता है जब हम अपने विचारों को दूसरों पर लादने का प्रयत्न करते हैं।

आज व्यक्ति तथा समाज दोनों के सम्बन्धो पर विचार करें तो यह अनुभव होगा कि सामाजिक संगठन अधिक शक्तिशाली है और व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्वरूप को संगठन का अंग बनाकर ही सुख से रह सकता है। इस पर भी व्यक्ति का अपना निजी स्वरूप उसकी अपनी सीमा में है और उस सीमा में वह सहज रहकर अन्य व्यक्तियों के सम्मुख सहज रूप में आना सीखे, तो उसके सुख मे वृद्धि हो सकती है। हमारा यह वर्ग या समुदाय चाहे जितना छोटा हो किन्तु ऐसे वर्ग और समुदाय की आज हमें आवश्यकता है, जिनके बीच हम सहज बनकर जी सकें। प्रश्न है, क्या हम अपने परिवार में सहज होकर जीते हैं या मित्रों के बीच सहज होकर जीते हैं? कहीं–न–कहीं हमें सहज होकर जीना ही है। हम अपने इस दायरे को जितना बढ़ा सकें, उतना ही हमारे अपने सुख का विस्तार होगा। तनावों से सहज छुटकारा न मिलने पर भी तनाव के कारणों को समझें और तदनुसार अपने अनुरूप समाज को ढालने का लगातार प्रयत्न करते रहें। इस दिशा में प्रवृत्त रहने पर ही तनावों से मुक्ति मिल सकेगी।

○ ○

संत्रास

संत्रास भय के साक्षात्कार की पूर्व कल्पना से युक्त मानसिक स्थिति से व्युत्पन्न अवस्था है। जैसे जैसे समाज अधिक संगठित होता जा रहा है और व्यक्ति के गुपित अंशों के खोजने के वैज्ञानिक साधन बढ़ते जा रहे हैं और इस तरह व्यक्ति पर समाज का नियंत्रण बढ़ता जा रहा है, वैसे वैसे संत्रास की समस्या, तीव्र समस्या के रूप में अनुभव की जा रही है। समस्या से निदान का एक उपाय यह भी है कि समस्या के परिप्रेक्ष्य से परिचित हो जाएँ, जिससे हम भयभीत होते हैं, उससे यदि परिचित हो जाएँ तो भय से मुक्ति मिलती है। इसी दृष्टिकोण से संत्रास—जनित स्थितियों का विश्लेषण यहाँ किया जा रहा है।

इस बात को सब स्वीकार करेंगे कि इधर व्यक्तिगत स्वाधीनता में कमी आई है और यह प्रक्रिया जारी है। बात यह है कि वैज्ञानिक तकनीक के विकास के कारण समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति सामाजिक संगठनों के माध्यम से हो रही है, जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा संगठन अधिक बलशाली है। दूसरी बात यह है कि समाजशास्त्र का अध्ययन इधर व्यापक धरातल पर हो रहा है और जिससे जनता आज सामाजिक नियमों के कारणों

से अधिक परिचित हो रही है । इस आधार पर व्यक्ति के कार्य की सामाजिक उपयोगिता का विश्लेषण किया जाता है और सामाजिक आधार पर व्यक्ति के कार्य का मूल्यांकन हो रहा है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति के निजी अधिकारों में कमी आई है । इस आधार पर व्यक्ति समाज में जिस रूप में कार्य कर रहा है, उस कार्य को करते हुए वह संगठन विशेष का अंग बनकर जी सकता है । संगठन में रहकर संगठन से विरोध व्यक्ति से संभव नहीं । व्यक्ति का जीवन इस नाते संगठनों, संस्थाओं, समुदायों, संस्थानों या अपने अपने कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित समूह विशेष से है, जिससे व्यक्ति का जीवन आबद्ध है।

एक ओर यह स्थिति है और दूसरी ओर यह स्थिति है कि व्यक्ति को अपने निजी अधिकारों की जानकारी अधिकाधिक होती जा रही है । इससे व्यक्ति के ज्ञात अधिकार (जिनका बोध व्यक्ति को हो गया है) यदि व्यक्ति को प्राप्त नहीं होते तो व्यक्ति में आक्रोश की भावना पैदा होती है । व्यक्ति का यह आक्रोश निश्चित ही अवसर पाकर फूट पड़ता है और यह आक्रोश संगठनों की नीति को प्रभावित करता है।

व्यक्ति ओर समुदाय इन दोनों में संगठन इन दिनों अधिक बलवान हो गया है । संगठन की स्थिति राक्षस जैसी हो गई है और व्यक्ति की स्थिति बौनी हो गई है । यद्यपि संगठन के कर्ता-धर्ता व्यक्ति ही होते हैं, तदपि वे व्यक्ति, स्वयं जो निर्णय लेते हैं, वे निर्णय व्यक्तिगत निर्णय नहीं होते बल्कि संगठन के निर्णय ही होते हैं । संगठन की सामुदायिक शक्ति का बोध उन व्यक्तियों को होता है और इस नाते, वे लोग ऐसा निर्णय नहीं ले सकते जिसको वे व्यक्तिगत रूप से चाह रहे हों। संगठनों के निर्णय पर लोकमत निर्भर करता है और लोकमत निश्चित ही व्यक्तिमत से भिन्न होता है ।

जहाँ तक संत्रास की बात है, उसका सम्बन्ध उन स्थितियों से है, जिस पर व्यक्ति का वश नहीं है। यही नहीं समुदाय का वश नहीं है या संगठन का वश नहीं है। व्यक्ति का वश न चले तो व्यक्ति संत्रस्त रहता है, इसी तरह समुदाय या संगठन का वश न हो तो समुदाय या संगठन संत्रस्त रहता है। संत्रस्त रहने का कारण यह है कि स्थिति विशेष के परिणाम की कल्पना हो जाती है और उसके निदान पर वश नहीं रहता। व्यक्ति रूप में इस प्रकार का बोध व्यक्ति के अस्तित्व को ललकारनेवाला होता है ।

जो लोग धार्मिक वृत्ति के हैं और संसार की समस्याओं का अन्तिम समाधान धार्मिक मान्यताओं के आधार पर प्राप्त करते हैं और जिनके पास

जीने के लिए विश्वास के स्रोत हैं, वे लोग संत्रस्त होते हुए —संत्रस्त की परिस्थितियों से गुजरते हुए—भी अपने को उक्त समस्या से ग्रस्त अनुभव नहीं करते। नियति पर वे विश्वास रखते हैं और संकटमय क्षणों से मुक्ति प्राप्त कर लेतें हैं। भारतवर्ष का बहुत बड़ा समाज आज भी धर्म में विश्वास रखनेवाला है और इसलिए अभावों में और कठिनाइयों में जीने का अभ्यस्त है। अतः संत्रास की स्थिति, संत्रास के बोध के रूप में, उन्हें व्याकुल नहीं करती। बलिपशु के रूप में जीनेवाला यह समाज अपने अधिकारों के ज्ञान के अभाव में और व्युत्पन्न स्थितियों के परिणाम की भयंकर कल्पना न कर पाने के कारण हरित तृण चरता हुआ निकट के दुःख का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अज्ञान अंधकार का सूचक है और अंधकार में मादकता होती है और इस मादकता में बहुत से लोग अपने को स्थितिविशेष को समर्पित करतें हुए भी स्थितिविशेष की भयानक कल्पना से मुक्त अनुभव करते रहते हैं। यहाँ धार्मिक वृत्ति को दोष नहीं दिया जा रहा है। बात केवल इतनी है कि इस वृत्ति के अपनाने से जीवन को सम्बल प्राप्त होता है और इससे संत्रास जनित स्थितियों के कारणों की ओर ध्यान नहीं जाता और नियति के आधार पर समस्या का समाधान खोज लिया जाता है।

संत्रास का अनुभव वे लोग अधिक करते हैं, जिनके पास जीने के लिए सम्बल नहीं और जीने की कठिनाई के बोध का उन्हें पग-पग पर अनुभव होता रहता है। स्वर्ग और नरक वस्तुतः इसी धरती पर है, इस बात में विश्वास करनेवाले जब नरक की यातना का अनुभव नरक की यातना से गुजरने से पूर्व ही कर लेते हैं, वस्तुतः वे संत्रास की समस्या से अधिक ग्रस्त हैं।

कार्य कारण दोनों यदि वैधानिक रूप में समाधान प्रस्तुत करते हैं तो समस्या का निदान कठिन नहीं है। कठिनाई का कारण यह है कि कार्य तो दिखलाई देता है किन्तु कारण का बोध नहीं होता। यदि कारण का बोध हो भी जाय और वह व्यक्ति से कार्य रूप में प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रखते हुए भी व्यक्ति को प्रभावित करे और उसके जीवन की स्थिति को दूभर कर दे तो संत्रास की स्थिति निर्मित होती है। विशेष रूप से आधुनिक युद्ध ने इस प्रकार की स्थिति का निर्माण किया है। सैनिक सैनिक से लडे ओर इस आधार पर निर्णय हो तो बात और है किन्तु युद्ध वैज्ञानिक साधनों के आधार पर हो रहे हैं। यदि निरीह जनता पर बम गिराए जाएं चाहे वह किसी देश की जनता हो तो जिस स्थान पर और जिस समूह पर

इस प्रकार से व्यवहार किया जाएगा, वहाँ पर संत्रास का वातावरण व्याप्त होगा। बम की चपेट में आनेवाले तो अज्ञान में मारे जाएँगे किन्तु उक्त घटना का प्रभाव ऐसी स्थिति का निर्माण करेगा जिसके कारण जनता उस घटना की पुनरावृत्ति की आशंका में अपने को संत्रस्त अनुभव करेगी। अस्तित्व रक्षा का प्रश्न, संत्रास की स्थिति से जुड़ा है। अफ्रिका में किसी भारतीय को यदि सताया जाता है और उसके साथ नागरिक सा व्यवहार नहीं होता तो उक्त घटना को पढ़कर भारतीय अपने को संत्रस्त अनुभव कर सकते हैं। समाचार पत्रों के कारण संसार में होनेवाली घटनाओं का ज्ञान नित्य प्रति बढ़ता जा रहा है और इन घटनाओं में जहाँ जहाँ मानवीय अत्याचार की घटनाओं से परिचय होता है और जिसके निदान का सहज उपाय नहीं सूझता, वहाँ वहाँ मनुष्य, मनुष्य होने के नाते अपने को संत्रस्त अनुभव करता है।

एक देश दूसरे देश से संत्रस्त है, एक दल दूसरे दल से संत्रस्त हैं, एक सम्प्रदाय दूसरे संप्रदाय से संत्रस्त है। संत्रास की यह स्थिति सामाजिक संगठनो में है और इसी तरह व्यक्ति में है। और जैसे कि पहले ही कहा गया व्यक्ति की स्थिति संगठनों के सामने बौनी हो गई है और वह चाह कर भी संगठन को बदलने का साहस नहीं कर सकता।

संत्रास की स्थिति बहुत कुछ व्यक्ति के निजी बोध पर भी निर्भर है। संत्रास का एक कारण लोकमत का भय भी है। भीड़ की मनोवृत्ति और व्यक्ति की मनोवृत्ति में अन्तर होता है। भीड़ की मनोवृत्ति निश्चित ही व्यक्ति की मनोवृत्ति को कुचल देती है। इसलिए व्यक्ति लोकमत से डरता है। यह भय व्यक्ति में प्रबल रूप धारण कर लेता है तो इससे व्यक्ति का विकास रुक जाता है। हम चाहते हैं कि हमारे मत का समर्थन करनेवाले व्यक्ति हों। इस प्रकार की संख्या बढेगी तो हमारे सुख में वृद्धि होगी। युवकों को इस स्थिति का सामना अधिक करना पड़ता है। युवक अपने को अधिक संत्रस्त अनुभव करते हैं। इसका कारण यह है कि युवकों को अपनी प्रतिभा के अनुसार, जिस पर उनका विश्वास है, जगह नहीं मिलती। युवकों के मन में स्वप्न होते हैं और सामने लम्बा जीवन। जब उनका स्वप्न खण्डित होने लगता है, तो वे निराश हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि वे सताए जा रहे हैं। इस कर्म प्रधान विश्व में जो जैसा कर्म करेगा, उसे वैसा ही फल चखने मिलेगा—इस बात के विपरीत उदाहरणों को अपनी आँखों से देखने के बाद व्यक्ति नीति को ताक पर रख देता है और प्रतिकार करना चाहता है किन्तु प्रतिकार करने की शक्ति से जब वह अपने को वंचित अनुभव

करने लगता है अर्थात् स्थिति विशेष पर उसका अपना वश नहीं रह जाता तो फिर वह अपने को संत्रस्त अनुभव करता है।

संत्रास भय के साक्षात्कार की पूर्व कल्पना है। इस स्थिति में भय के संचार के कारण मन विकल रहता है और बुद्धि काम नहीं करती। संत्रास के क्षणों में बुद्धि यदि जाग जाये तो भय से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। संत्रास के क्षणों में व्यक्ति का मन अस्वस्थ रहता है और प्रश्नों का समुचित उत्तर देने की स्थिति में नहीं रहता। बहुत से मानसिक विकार संत्रास–जन्य होते हैं। संत्रास के कारण व्यक्ति कायर हो जाता है और अपने को परिस्थितियों पर छोड़ देता है।

संत्रास की इस समस्या पर मैक्स वेबर ने विचार किया है। उन्होंने आधुनिक संगठनों के प्रशासन का इस दृष्टि से व्यक्ति पर पड़नेवाले प्रभावों की स्थिति को स्पष्ट किया है। मैक्स वेबर के इन विचारों का विश्लेषण करते हुए प्रो. राइनहार्ड बैण्डिक्स ने लिखा है—

> 'वेबर ने जनतांत्रिक मूल्यों के सम्बन्ध में कर्मचारीतन्त्र पर विचार करके वैधानिक प्रभुता के इस मत–विरोध का विश्लेषण सामाजिक संरचना के स्तर पर किया। जनतांत्रिक आंदोलनों की सहायता से कर्मचारीतंत्र विकसित हुआ। इन आंदोलनों ने विधि के लिए सब व्यक्तियों की समानता और न्यायिक एवं प्रशासनीय निर्णयों में निरंकुशता से बचने के लिए वैधानिक गारण्टी की माँग की। विशेषाधिकार एवं निरंकुश शक्तियों की वर्तमान प्रणाली के विरोध में इन माँगों ने दो बातों का समर्थन किया। पहली, नियमों से शासित सत्ता का अवैयक्तिक कार्यान्वयन तथा दूसरी, प्राविधिक योग्यता के आधार पर सभी सामाजिक स्तरों से अधिकारियों की भर्ती। इन माँगो को पूरा करने में कर्मचारी तन्त्रात्मक संगठन का प्रभाव समानता लाने का था, विधि से शासित जनता तथा विधि के अन्तर्गत सत्ता को कार्यान्वित करनेवाले अधिकारी औपचारिक रूप से समान हो गए। पर औपचारिक समानता के इस लाभ का जनतान्त्रिक मूल्यों पर द्विधापूर्ण प्रभाव पड़ा। जहाँ अधिकारियों की भर्ती शिक्षा की योग्यताओं पर निर्भर है वहाँ अधिकारी सामाजिक विशेषाधिकारी के बजाय परीक्षा और प्रमाणपत्रों के आधार पर एक विशेषाधिकार वाली जाति बन जाते हैं। जहाँ पदों पर सारे जीवन के लिए नियुक्तियाँ होती हैं, वहाँ अधिकारी अपनी सत्ता को बढ़ाने के लिए अपने पद का

प्रयोग कर सकते हैं, भले ही वे दुरुपयोग न करे। जो उपाय सत्ता के दुरुपयोग और विशेषाधिकार के प्रभाव से कर्मचारीतन्त्र की रक्षा करते हैं वे प्रस्थिति के नये विशेषाधिकारों को जन्म देते हैं, जिन्हें एकाधिकारी व्यवहारों से सहारा मिलता है। उन उपायों में हम नियुक्त व्यक्तियों की प्रमाणित योग्यता, नियमित तरक्की, पेन्शन की व्यवस्था, नियंत्रित निरीक्षण और अभ्यर्थना की विधि को ले सकते हैं। इस संकट से बचने के लिये अल्पकालीन नियुक्तियों और योग्यता पर बिना विचार किये हुए नियुक्ति पाने के सर्वसामान्य अधिकार की माँग की गई। ये माँग कर्मचारीतन्त्रीय निरंकुशता के विरुद्ध जनता की औपचारिक गारण्टी की इच्छा को द्योतित करती हैं। इन गारण्टियों से निरंकुशता से बचने के लिए कर्मचारीतन्त्र की वर्तमान गारण्टियों को क्षति पहुँच सकती है, पर वे इस पर विचार नहीं करते। दूसरी ओर जनता की यह इच्छा इस जनप्रिय भावना के विरोध में है कि प्रत्येक मामले अथवा व्यक्ति पर उसकी विशिष्टता के अनुसार विचार करना चाहिए अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति की विशेषताओं को ध्यान में रखकर पक्षपातशून्य न्याय करना चाहिए। इस प्रकार तर्क के आधार पर जिन औपचारिक गारण्टियों की माँग की जाती है, उनका त्याग प्राय: वे ही व्यक्ति भावुकतावश कर देते हैं।"

मैक्स वेबर एक बौद्धिक व्यक्तित्व–लेखक–प्रो. राइनहार्ड बैण्डिक्स,–अनुवादक–कैलासनाथ शर्मा–पृ. ४७४ तथा ४७५.

मैक्स वेबर ने इस सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विवेचन किया है और कर्मचारीतंत्र के अधिकारियों के अधिनायकवाद को स्पष्ट किया है। जैसे कि कहा गया है– "जो व्यक्ति यह आशा करते हैं कि भविष्य का समाजवादी समाज प्रमुख सामाजिक परिवर्तन ला देगा, उन लोगों को वेबर ने बतलाया कि केन्द्रीय रूप से नियोजित समाज में कर्मचारीतन्त्रात्मक प्रवृत्तियाँ और भी अधिक बढेगी। श्रम विभाजन और प्रशासन में विशेष योग्यता का प्रयोग बढेगा और इसका परिणाम 'सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद' की अपेक्षा 'कर्मचारीतन्त्र के अधिकारियों का अधिनायकवाद' होगा।' (वही पुस्तक पृ. ४९९) इस विस्तार में और अधिक जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल यह कहना है कि इस समय में कर्मचारीतन्त्रात्मक अधिनायकवाद प्रचलित है। इस प्रकार के प्रशासन की व्यवस्था से व्यक्ति की स्वायत्तता समाप्त हो जाती है। प्रशासन के विकराल पहियों के नीचे व्यक्ति दब रहा

है। इस विकराल समस्या का भयावना चित्र पढ़कर हम संत्रस्त हो सकते हैं। प्रो. राइनहार्ड ने ही लिखा है :–

" ... यह सोचना ही अरुचिकर है कि एक दिन संसार में प्रशासन में लगे हुए दाँतों (Cogs) के अलावा और कुछ न होगा। ये छोटे आदमी छोटे कार्यों में लगे होंगे और बड़े कामों को पूरा करने में प्रयत्नशील होंगे। प्राचीन मिश्र की भाँति यह दशा हमारे वर्तमान प्रशासन की प्रणाली में उत्तरोत्तर अधिक भाग लेगी, विशेष रूप से विद्यार्थियों के मनोभावों में कर्मचारीतन्त्र का आवेग किसी भी व्यक्ति को निराश कर सकता है। यह आवेग राजनीति की भाँति है। ... हम जान बूझकर ऐसे व्यक्ति बनते हैं जिन्हें व्यवस्था या शान्ति की आवश्यकता है और यदि एक क्षण के लिए भी शान्ति नष्ट हो जाती है तो हम घबरा जाते हैं और कायर हो जाते हैं और यदि इस व्यवस्था का अंग नहीं बन जाते हैं तो निस्सहाय हो जाते हैं। संसार में केवल इसी प्रकार के मनुष्य रहें, इस प्रकार के उद्विकास में हम फंस चुके हैं, इसलिए अब प्रश्न यह नहीं है कि हम इसकी उन्नति के लिए क्या करें अपितु यह है कि हम इस यन्त्र के किस भाग का विरोध करें, ताकि हम कम से कम कुछ मनुष्यों को अपनी आत्मा बेचने से रोक सकें और कर्मचारीतन्त्रीय जीवन की इस परम प्रभुता से बचा सकें। "

– वही पुस्तक–पृ. ५०४–५०५

इस स्थिति का बोध जिन्हें हो गया है और जो इसे अनुभव कर रहे हैं, वे संत्रस्त हैं। इधर जनवरी १९७१ ई० में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से ख्वाजा बदीउज्जमाँ का उपन्यास 'एक चूहे की मौत' प्रकाशित हुआ है। यह उपन्यास आधुनिक कर्मचारीतन्त्र के प्रशासन में पाए जानेवाले अधिनायकवाद की स्थितियों को स्पष्ट करता है। इस उपन्यास का पात्र संत्रास की स्थिति से गुजरता हुआ दिखलाया गया है। वह व्यक्ति कहाँ रहा ? वह तो चूहा है। और उस चूहे की भी मौत हो गई। प्रशासन के दांत बहुत तेज हैं और उसके जबडे से आज का व्यक्ति मुक्त नहीं है।

इधर हम बहुत से आन्दोलनों को देखते हैं। ये आन्दोलन प्रशासन के विरोध में किए जाते हैं। बन्द का आजकल प्रचलन हो गया है और घेराव भी होता है। विरोध प्रदर्शन तो होते ही रहते हैं। यह सब व्यक्ति के धरातल पर नहीं, समूह के धरातल पर हो रहे हैं। यद्यपि यह सब सोद्देश्य और अच्छे

प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर, समूह के हित पर विचार करते हुए किए जाते हैं किन्तु यह सब वर्तमान व्यवस्था की पूरी यंत्रणा में कहाँ तक उचित है, यह तत्काल ज्ञात नहीं हो सकते। इनके प्रभावों का अध्ययन विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। सामान्य रूप में व्यक्ति इन स्थितियों से संत्रस्त होता है और अनपेक्षित स्थितियों में घिर जाता है। ऐसी स्थितियों में व्यक्ति अपने को विवश अनुभव करता है और संत्रस्त रहता है।

संत्रास से मुक्ति का सहज उपाय बतलाना कठिन है। संत्रास से मुक्ति संत्रास की स्थितियों से परिचित होने से ही मिल सकती है। संत्रास के क्षणों में हमारी बुद्धि जाग्रत रहे और हम आवेग से परिचालित न होकर यदि बुद्धि का अनुसरण कर सकें और अवैयक्तिक रूप में आत्मा को पहचान कर आत्मभाव अपने में जगा सकें तो संत्रास से मुक्ति मिल सकती है। यह सब सहज नहीं। इस सब के लिए आत्मबल की आवश्यकता है। साधारण व्यक्ति तो कायर होता है और वह इन क्षणों में घबरा जाता है। यदि इन क्षणो में हमें ऐसे व्यक्तियों का सहारा मिले जो आत्मबल रखते हैं तो उनकी शरण जाने से मुक्ति मिल सकती है। हम ऐसे व्यक्तियों की खोज में हैं।

○ ○

ऊब

वर्तमान समय में एक ओर जहाँ ऊब से बचने के लिए अनेक साधनों का विकास हुआ है, वहाँ ऊब पैदा करनेवाले अनेक कारण भी बढ़ गये हैं। ऊब एक ऐसी समस्या है, एक ऐसा भाव है, एक ऐसी मनःस्थिति है, जिससे सभी बचना चाहते हैं। ऊब एक प्रकार से कर्म के प्रति मानसिक योग के अभाव के कारण उत्पन्न अतृप्ति का भाव है। यही नहीं जब मनुष्य को कोई काम नहीं होता और जब वह यह अनुभव करता है कि उसकी अब संसार को कोई आवश्यकता नहीं रह गई है, तो ऐसी स्थिति में मनुष्य उकताहट और ऊब का ही अनुभव करता है। आत्महत्या प्रायः वही करता है, जो जीवन से ऊब जाता है और वह यह समझने लगता है कि संसार में उससे सहानुभूति रखनेवाला कोई नहीं है। वास्तव में यह बडी विडम्बना है किन्तु सत्य है कि जीवन में उत्तेजना और आनंद के क्षण बहुत कम हैं और ऊब और उकताहट के बहुत अधिक। मनुष्य चाहे या न चाहे, ऊब और उकताहट का सामना उसे करना ही पड़ता है। इससे बालक, किशोर, युवक और वृद्ध सभी पीड़ित हैं।

एक ही कर्म को लगातार करने से मनुष्य ऊब जाता है। ऊब का सम्बन्ध बहुत कुछ किए जानेवाले कर्म के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध से है। अतः ऊब का विभाजन और विश्लेषण मनुष्य का कर्म के प्रति दृष्टिकोण के आधार

पर ही हो सकता है। हम कर्म से प्राप्त फल के आधार पर ऊब को दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं। (१) फलदायी ऊब और (२) निष्फल ऊब।

ऊब अपने आप में अशुभ और अप्रीतिकर प्रतीत होने पर भी फलदायी होती है । किसी भी कार्य में क्षमता आसानी से प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके लिए अथक परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में यदि ऊबकर उस कार्य को बीच में ही छोड़ दिया जायगा तो कार्य के पूर्ण होने की संभावना जाती रहेगी । प्रेरणा को स्थिर बनाये रखना, कार्य में मन न लगने पर भी निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने मन को उस कार्य के अनूकल बनाने का प्रयत्न करना, लक्ष्य को सदैव आँखों के आगे रखना, अन्य प्रलोभनों से बचकर एकाग्रता का अभ्यास करना आदि सब फलदायी ऊब को सहने के लिये तैयार होना है । ऐसी स्थिति में ऊब पर विजय प्राप्त करना ऊब को वरदान के रूप में ग्रहण करना है । चूँकि ऊब को हम पसंद नहीं करते, काम से और परिश्रम से जी चुराते हैं अतः प्रायः बडे लोग बार बार सद्प्रेरणाओं द्वारा और स्नेहपूर्ण कठोर शासन द्वारा फलदायी ऊब सहने के लिये बल प्रदान करते हैं। यह ठीक है कि आज की शिक्षण प्रणाली प्राचीन प्रणाली की तुलना में कम ऊबदायी है। अब बालकों को पीटा नहीं जाता, उनकी मानसिक स्थिति को पहचानकर उनके अनुकूल ही वातावरण और साधनों द्वारा उपयुक्त शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आजकल प्रयत्न इस बात का हो रहा है कि हर कार्य को मनोरंजक बनाया जाय । कार्य के साथ साथ मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिये उकताहट को दूर करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं । यह शुभ है । विज्ञान ने इस दिशा में वास्तव में हमारी बहुत सहायता की है । किन्तु इस पर भी ऊब तो सहनी ही पड़ती है और बिना ऊब को सहे कोई भी महान् कार्य नहीं हो सकता।

"करम प्रधान बिस्व करि राखा, जो जस करइ सो तस फलु चाखा" गोस्वामीजी की यह चौपाई साफ कह रही है कि विश्व कर्मप्रधान है और मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का ही फल प्राप्त करता है। जीवन का आनन्द वास्तव में कर्म में ही है। किन्तु कर्म का यह आनंद वही प्राप्त कर सकते हैं, जो कर्म का ज्ञान ही नहीं रखते बल्कि साथ ही साथ उस कर्म से उनका पूरा मानसिक योग—भावात्मक सम्बन्ध—भी होता है। अतः ऊब में कर्म के साथ कार्य करनेवाले दो प्रमुख तत्त्व कर्म का ज्ञान और कर्म के साथ भावात्मक सम्बन्ध हैं। और इसी आधार पर ऊब की मीमांसा की जा सकती है। कर्म तो किया जा रहा है किन्तु उसका पूरा ज्ञान नहीं है तो कर्म का पूरा आनन्द नहीं लिया जा सकता। इसी तरह कर्म के साथ मानसिक योग नहीं है, तो

एसी स्थिति में भी उकताहट का उनुभव ही होगा। कार्यों के अनेक प्रकार हैं किन्तु मोटे रूप में दो प्रकार के कार्य माने जा सकते हैं – (१) शारीरिक कार्य और (२) मानसिक कार्य। शारीरिक कार्य करनेवाले प्रायः अशिक्षित वर्ग के हैं और मानसिक कार्य करनेवाले शिक्षित वर्ग के। इन दोनों ही वर्गों को ऊब का सामना तो करना पड़ता है किन्तु उसमें भेद है। कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का काम एक प्रकार से क्रिया के बार बार आवर्तन से है। लगातार एक ही काम मशीनवत् करना है। विशेष रूप से यंत्रों को चलानेवाले लोग एक बार विधि सीख लेने के बाद यंत्रवत् ध्यान को केन्द्रित किए कार्य किए चले जाते हैं। इन काम करनेवालों की दृष्टि अपने वेतन पर या कार्य से प्राप्त होनेवाले तात्कालिक फल पर होती है। यह दृष्टि ही उन्हें कर्म से प्राप्त ऊब को सहन करने की क्षमता प्रदान करती है। आजकल किसी वस्तु का निर्माण किसी एक व्यक्ति से पूर्ण रूप से नहीं होता अतः मनुष्य रचना का पूर्ण आनन्द नहीं ले सकता। वह जो कुछ करता है, उसका उसे पूरा ज्ञान नहीं होता। कार्य का आनन्द कर्म के पूर्ण ज्ञान के अभाव में नहीं लिया जा सकता। ऐसी स्थिति में उसकी दृष्टि कर्म पर कम और उससे प्राप्त होनेवाले फल पर अधिक होती है। विशेष रूप से मजदूरों को वही कार्य करना पड़ता है, जो उन्हें बतला दिया जाता है और वह भी एक ही काम को यंत्र की तरह गति से करना है। शारीरिक शक्ति और मस्तिष्क की क्षमता के आधार पर आदमी काम करता चला जाता है। कार्य की एकरसता से ऊब पैदा होती है। इस ऊब को मिटाने के लिए मजदूर वर्ग मादक पदार्थों का सेवन करता है। यह वर्ग अपने अवकाश का समय अधिक से अधिक उत्तेजना प्राप्त कर बिताना चाहता है। उनका एक उद्देश यह भी होता है कि कार्य से उत्पन्न एकरसता को समाप्त करना। जो कुछ फल उन्हें प्राप्त होता है, उसका अधिकांश किसी अच्छे कार्य पर कम और उत्तेजनात्मक पदार्थों पर या मानसिक उद्दीपन के लिए अधिक खर्च होता है। और फिर इनका अन्त नहीं होता। उत्तेजना या उद्दीपन से सम्बन्धित कोई भी पदार्थ या कार्य हो, उसकी लत पड जाने पर उससे मुक्ति पाना बड़ा कठिन होता है। कई बार तो मनुष्य इससे उलझनों में फंस जाता है। बार बार बदलनेवाले प्रभाव — विशेष रूप से उत्तेजनात्मक प्रभाव—मनुष्य के सुख की मात्रा को कम करते जाते हैं और पहले वह जिन पदार्थों के थोडी मात्रा में सेवन करने से उद्दीप्त या उत्तेजित हो जाता था बाद में उसकी लत पड़ जाने पर उस उत्तेजना का अनुभव नहीं करता। वह इस प्रकार के जीवन से ऊबता चला जाता है। इस प्रकार का वर्ग अपने आप में दुःखी होने पर भी अन्य के लिए समस्याएँ

उत्पन्न करता है। समाज को भी इससे खतरा बना रहता है। इसीलि आवश्यकता इस बात की है कि इस वर्ग को समुचित रूप से शिक्षा के द्वारा उन्हें उनके कर्म की महत्ता का ज्ञान कराया जाय और साथ ही साथ उस कर्य के प्रति गौरव की भावना भी उनके मन में पैदा की जाय। दूसरा कार्य यह कि अवकाश का समय अच्छी दिशा में बिताने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जाय।

पढ़ने या अध्ययन करने का ही उदाहरण लें। महान् से महान् पुस्तक में भी उकतानेवाला अंश होगा। कोई भी पुस्तक बिना ऊब को सहे पूरी नहीं पढी जा सकती। यह हो सकता है कि ऊब की मात्रा किसी में अत्यल्प होगी और किसी में अत्यधिक। किंतु उकताहटवाला अंश पुस्तक में अवश्य होगा। और फिर यह बहुत कुछ मानसिक स्तर पर निर्भर करता है। एक ही अंश किसी के लिए मनोरंजक और दूसरे के लिए उकताहट पैदा करनेवाला हो सकता है। मनोरंजक कार्यों में जैसे चित्रपट देखने में सभी स्थल आकर्षक और अच्छे लगना संभव नहीं। वहाँ भी कुछ चुने हुए अंश मनपसंद हो सकते हैं। इसी तरह अन्य क्षेत्रों में भी यह बात हो सकती है। सार बात यह है कि जीवन में आनंद और उत्तेजना के क्षण बहुत कम हैं और उसकी तुलना में उकताहट के क्षण अधिक हैं।

ऊब से बचना अर्थात् उत्तेजना प्राप्त करना है। कार्य से उत्पन्न नीरसता को दूर करने के लिए, कार्य के बार बार आवर्तन में व्यवधान डालने के लिए या मानस को पुनः स्फूर्त करने के लिए अनेक मादक पदार्थों का सेवन आज का मनुष्य कर रहा है। यह एक प्रकार से अनिवार्य सा हो गया है। मादक पदार्थों के अनेक प्रकार हैं। प्रत्येक मनुष्य इनमें से अपनी सुविधा और स्थिति के अनुसार इनका सेवन करता है। तम्बाकू, पान, बीडी, सिगरेट, चुरुट, चाय, काफी, अफीम, गांजा, भांग, शराब आदि सभी प्रकार के मादक पदार्थों का सेवन ऊब या उकताहट से बचने के लिए, कुछ गर्मी, उत्तेजना या नशा पाने के लिए किया जाता है। मादक पदार्थों के सेवन के साथ साथ विज्ञान ने आज ऐसे अनेक साधन उपलब्ध कर दिए हैं, जिनसे कार्य के पुनरावर्तन से बचा जा सकता है, मन को बहलाया जा सकता है, वातावरण को बदल कर नई नई उत्तेजना प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा सकते हैं। इनमें विशेष रूप से सिनेमा, नृत्य, संगीत, रेडिओ, टेलिविजन, अन्य साँस्कृतिक समारोह, पत्र–पत्रिकाएं, विविध विषयों की पुस्तकें, यात्रा, भ्रमण, वन भोजन, पर्वतारोहण, तैरना जलविहार आदि आदि हैं। इनके सहारे से मनुष्य जीवन की नीरसता को मिटा सकता है। जीवन की नई नई उमंगों को प्राप्त कर

अपने कार्य के लिए वह फिर तैयार हो सकता है। विज्ञान ने एक ओर जहाँ हमें साधन संपन्न बनाया है, वहाँ दूसरी ओर उसके अनुकूल वातावरण भी उत्पन्न किया है। इनके प्रयोग से नीरस क्षण रसमय क्षणों में परिवर्तित तो होते ही हैं, साथ साथ ज्ञानवृद्धि भी होती है और जीवन सुखमय बनता है। पूर्वजों की अपेक्षा हम अधिक सुखी हैं और समृद्ध हैं क्योंकि हम उनकी तुलना में अधिक साधन संपन्न हैं। किंतु क्या फिर भी ऊब की मात्रा में कमी हुई है? यह प्रश्न विचारणीय हैं।

विज्ञान ने हमें यंत्र दिए हैं। जिस काम को करने में पहले शारीरिक श्रम करना पड़ता था, वह काम अब यंत्रों द्वारा कम लागत पर कम मनुष्यों द्वारा कम समय में हो रहा है। इससे मनुष्य के कार्यकाल में कमी हुई है। वह नियत समय पर काम करता है और बाद का अवकाश का समय ऐसे कार्यों में लगा सकता है, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास हो सके। यह समय उसका अपना है। इस समय को वह अपनी रुचि के अनुकूल कार्यों में लगा सकता है। सायंकाल का समय मित्रों के साथ गपशप या भ्रमण में, सिनेमा आदि मनोरंजक स्थलों में जाकर, पुस्तकालयों में, गोष्ठियों में, क्लबों में, रेडियो सुनने में या किसी और सभा में सम्मिलित होकर काटना अब सुलभ हो गया है। यह व्यक्ति की अभिरुचि और व्यक्तित्व पर निर्भर करता है कि वह अपना अवकाश का समय किस प्रकार काटे और फिर से कार्य करने की क्षमता किस प्रकार प्राप्त करें? किन्तु क्या इन सब के होते हुए भी मनुष्य सुखी हुआ है? क्या ऊब की मात्रा में कमी हुई है यह प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है।

ऊब का अनुभव बहुत कुछ मानसिक स्तर के अन्तर वाले वर्गों में भी मिलता है। बालक युवकों के बीच, युवक बूढ़ों के बीच अधिक देर तक नहीं रह सकते। यह अंतर केवल आयु के आधार पर ही नहीं बल्कि इससे भी आगे यदि हम गहराई से देखें तो मानसिक स्तर के आधार पर समान रुचि और समान कार्यों के वर्ग के आधार पर भी यह अन्तर दिखाई देगा। सुखी व्यक्ति वही है, जिसे अपनी रुचि के अनुकूल विश्वसनीय साथी—समवयस्क साथी—मिल जाए।

निष्फल ऊब भी मनुष्य को इस संसार में बहुत सहनी पड़ती है। वह व्यक्ति सचमुच बुद्धिमान और चतुर माना जायगा जो इन अवसरों से लाभ उठाकर नीरस क्षणों को रसमय बना लेगा। किन्तु ऐसा प्रायः बहुत कम होता है। निष्फल ऊब के दो प्रमुख कारण हैं—एक है, परतंत्रता और दूसरी

विवशता। ऐसे बहुत से कार्य जिसे मनुष्य को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया जाय तो कभी नहीं करना चाहेगा किन्तु चूंकि वह परतंत्र है, उसे कर रहा है। इस प्रकार के कर्मों को करते हुए मनुष्य को भारी ऊब का सामना करना पड़ता है। ऐसे काम करते समय मनुष्य का मानसिक योग उस कर्म के साथ बिलकुल नहीं होता। बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है– "मनुष्य में विकास का विधान आवश्यक रूप से केवल तभी नहीं कुचलता जब उसे कोई निश्चित कार्य करने से रोका जाय, बल्कि बहुधा उस हालत में भी कुचल जाता है, जब उसे कोई दूसरा काम करने पर विवश किया जाता है।"[1] ऐसी स्थिति में मनुष्य को जिस प्रकार की ऊब को सहना पड़ता है उसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। ऐसी ही स्थिति में मनुष्य कभी कभी आत्महत्या भी कर लेता है। ऊब से मुक्ति पाने के लिए स्वतंत्रता की परम आवश्यकता है। कई बार हम ऊब सहने के लिए विवश हो जाते हैं–परतंत्रता के कारण नहीं बल्कि अनजान में या अनायास तात्कालिक उपस्थित कुछ कारणों से। जैसे रेलवे स्टेशन पर रात काटनी है। शिष्टाचार के कारण चार घण्टे तक बैठे रहना है। किसी सामाजिक कारण से किसी स्थान पर एक सप्ताह रहना है। जेल में छः महीने के लिए बन्द पड़े हैं। जंगल में घिर गए और जब तक उचित साधनों का मिलना कठिन हैं, वहीं पर रुके रहना है। इसी तरह और भी अन्य कारण हो सकते हैं। इस प्रकार की ऊब परतंत्रता से कम और विवशता के कारण अधिक सहनी पड़ती है। ऐसे समयों को रुचि के विपरीत वातावरण में, रुचि के विपरीत अजनबियों के बीच बिताना बड़ा ही दुष्कर कार्य होता है। बुद्धिमान और चतुर लोग विवशता की ऊब का लाभ उठा लेते हैं। जैसे लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य की रचना मांडले जेल में की। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा जेल में लिखी। यही नहीं यदि उनकी आत्मकथा को पढ़ा जाय तो पता चलेगा कि अपना जेल का समय उन्होंने किस प्रकार काटा। एक उदाहरण–" करीब करीब शाम से सुबह तक मुझे अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे नहीं कटती थी। घण्टों पढ़ते पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में इधर से उधर टहलना शुरु कर देता, चार पाँच कदम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक्त मुझे चिड़ियाघर के रीछ के अपने पिंजरे में इधर से उधर चक्कर काटने का दृश्य याद आ जाता था। कभी कभी जब मैं बहुत

1. सामाजिक पुर्ननिमाण के सिद्धान्त–बर्ट्रेण्ड रसेल–अनु : मुनीश सक्सेना पृ. १९३.

ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता"[२] इसी तरह के अन्य उदाहरण भी मिल सकते हैं। लेखक अपने लिए लिखने की बहुत सी सामग्री वेटिंग रुम के समाज से प्राप्त कर लेते हैं। राबिनसन क्रूसो ने अकेले होने पर भी जीवन को रसमय बना लिया।

नैतिकता की दृष्टि से भी ऊब एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। रसेल ने लिखा है– 'नैतिकतावादी के लिए ऊब एक महत्वपूर्ण समस्या है क्योंकि मानव जाति कम-से-कम अपने आधे पाप इसी के डर से करती है।'[३] अपने खाली समय को—अवकाश के समय को—बिताना एक समस्या है ? उदाहरण के लिए बहुत से माता—पिता आरम्भ में अपने बालकों को—तीन से पाँच वर्ष की अवस्था वाले बालकों को— बालमन्दिर में या पाठशाला में केवल इसलिए भेजना चाहते हैं कि उनको व्यस्त रखा जाय। वे क्या सीखते हैं, इस पर कम ध्यान दिया जाता है। वे इससे ही प्रसन्न हैं कि बच्चे वहाँ समय काट आते हैं और घर में कुछ शान्तिपूर्वक काम कर सकते हैं। यह तो बालकों की बात हुई। अधिकारी वर्ग सदैव इस चिन्ता में रहता है कि वह अपने अधीनस्थ कार्य करनेवालों को कैसे व्यस्त रखें ? क्योंकि यदि वह वर्ग यदि थोडी भी स्वतंत्रता का अनुभव कर लेगा या खाली बैठा रहेगा तो कोई न कोई समस्या खडी हो जायगी। बहुत बार काम न होने पर भी समय काटने के लिए काम पैदा किया जाता है। इस सम्बन्ध में एक कहानी लिखना उपयुक्त होगा। कहते हैं, एक राक्षस किसी व्यक्ति पर प्रसन्न हो गया और उसने उससे कहा कि मुझे तुम कोई भी काम कहो मैं तत्काल कर दूंगा। किन्तु इसके साथ साथ उसने यह भी कहा कि जब तुम काम कहना बन्द कर दोगे तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा। उस व्यक्ति ने पहले उसे एक भवन बनाने का आदेश दिया। राक्षस ने चुटकियों में भवन खड़ा कर दिया और कहा कि – अब काम बतलाइए। उसने भवन में आवश्यक सामग्री की माँग की और वह भी चुटकियों में आ गई। वह व्यक्ति घबरा गया और अपनी जान पर आफत आते हुए देख कर अन्त में उसने बुद्धिमानी से काम लिया। उसने उससे एक लम्बा स्तम्भ लाकर जमीन में गाड़ने के लिए कहा। जब वह गाड़ दिया तो फिर उसे आदेश हुआ कि वह उस पर चढ़ जाये और उतरे। इस क्रिया को वह तब तक दोहराता रहे जब तक उसे किसी प्रकार का दूसरा कार्य न कहा जाय। कहते हैं कि राक्षस इससे ऊब गया और अन्त में उसने व्यक्ति को सब कुछ देते हुए अपने प्राण बचाकर भागा। तात्पर्य यह

---

२ मेरी कहानी – जवाहरलाल नेहरू – दसवाँ संस्करण – पृ. ६८९,

३ सुख की साधना – बर्ट्रेण्ड रसेल – अनु : ख्वाजा बदीउज्ज्जमाँ – पृ. ४६

है कि ऊब राक्षस भी नहीं सह सकता । यहाँ उस व्यक्ति की चतुराई ओर बुद्धिमानी की प्रशंसा इसी दृष्टि से की जायगी कि उसने राक्षस को व्यस्त रखने का मार्ग ढूँढ निकाला । इसी तरह अधिकारी अपनी सफलता इसीमें मानता है कि वह अपने अधीनस्थ लोगों को किस प्रकार व्यस्त रख सकता है । यह बात दूसरी है कि अधिकारी का कार्य सामाजिक दृष्टि से और अपने अधीनस्थ लोगों की दृष्टि से कितना उचित है ? यह यहाँ विचारणीय नहीं है। यह एक अलग विषय है और इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। जहाँ तक ऊब का प्रश्न है वहाँ यही कहना है कि खाली बैठे बैठे ऊबने से यही अच्छा है कि कुछ न कुछ किया जाय । इस करने में यदि मनुष्य ने सुबुद्धि से काम नहीं लिया तो वह समस्याएँ उत्पन्न कर सकता है ।

आज के व्यस्त जीवन में समय बड़ा कीमती हो गया है । विशेष रूप से नगर में रहनेवाला वर्ग इतना अधिक व्यस्त है कि मनुष्य अपना समय अपने परिवार को भी पूरी तरह नहीं दे पाता । यहाँ तक कि सुखोपभोग के लिए भी इनके पास समय नहीं है । सबेरे से शाम तक मनुष्य मशीन की तरह काम करता चला जाता है । नियत समय पर उठना, नित्य कर्म से निबटना, खाना और वाहनों की प्रतीक्षा में खडे रहना । नियत समय पर कार्यस्थल पर पहुँचना और फिर नियत समय पर लौटना। इस एकरसता ने भी मनुष्य की भावनाओं के स्रोत को सूखा दिया है । लगता है, जैसे मनुष्य मनुष्य न हुआ, एक यंत्र है जो नियत समय पर नयत काम करता है । इस प्रकार का उत्तम उदाहरण लक्ष्मीकांत वर्मा के उपन्यास में, खालीं कुर्सी की आत्मा उपन्यास में, डॉ. बनडोले हैं । अपने जीवन की एकरसता से ऊबकर जिस दिन उन्होंने घडियाँ बन्द कर दीं और अपनी पत्नी से प्रेमालाप करना चाहा उस दिन सबको आश्चर्य हुआ । यह डाक्टर वनडोले की बात नहीं है, यह समस्या आज सभी की है । मनोरंजन के विविध उपकरण जितने बढ़ते जा रहे हैं, उतनी ही मात्रा में ऊब भी बढ़ती जा रही है । मनुष्य जैसे जैसे शिक्षित होता जा रहा है, वैसे वैसे उसकी आवश्यकताएँ बढती जा रही हैं। सभ्यता, वास्तव में विज्ञान की नवीनतम देन और उपलब्धियों को जीवन में उतारने तथा उनका उपयोग करने में है। कहते हैं, आवश्यकता अविष्कार की जननी है । इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि अविष्कार सभ्यता की जननी है । जितने नये अविष्कार हो रहे हैं उनका उपयोग मानव हित में होना और उन अविष्कारों का प्रयोग सर्वसुलभ बनाना समाज को सभ्य बनाना है । ऐसे बढ़ते हुए सभ्य समाज में प्रतियोगिता और स्पर्धा चलती रहती है । इन आवश्यकताओं का

अन्त नहीं है और ऐसी स्थिति में आवश्यकता का बोध तो है किन्तु उसकी पूर्ति नहीं हो रही है तो ऐसी स्थिति में मनुष्य प्रयत्न करेगा। इस दौड़ में उसे मृगमरीचिका ही हाथ आती है और उसका अन्त बड़ा विषम होता है। उसे विविध प्रकार के मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं। मानसिक यातना शारीरिक यातना से अधिक कष्ट पहुँचानेवाली होती है। ऐसी स्थिति में जीवन बड़ा ऊबदायी हो जाता है। शिक्षा के प्रसार से जहाँ एक ओर बहुत लाभ हुआ है वहाँ दूसरी ओर तर्क-वितर्क के कारण, विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण वस्तुओं से जिस रूप में सुख प्राप्त करना चाहिए उस रूप में सुख की प्राप्ति के अनुभव की मात्रा में कमी होती हुई दिखाई दे रही है। एक अशिक्षित व्यक्ति का सुख वस्तुपरक अधिक होता है और शिक्षित का उसकी तुलना में कम। अतः ऊब से बचने के साधनों का विकास हुआ है, इसको स्वीकार करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि उन साधनों से उत्तेजना प्राप्त होने पर भी ऊब की मात्रा में कमी नहीं हुई हैं। यह अन्तर स्तरों का है।

आज के समाज को जिस ऊब का अनुभव करना पड़ रहा है, वह आधुनिक साहित्य में व्यक्त हो रही है। नयी कविता और नई कहानियों को देख लेने से इसका सहज बोध हो जायगा। ऊब वास्तव में आज एक गहन समस्या है। देखना यह है कि विज्ञान ने ऊब से बचने के जहाँ अनेक साधन हमारे सामने प्रस्तुत किए हैं, वहाँ वह हमारे मानस का उत्थान करने में कहाँ तक समर्थ है? मानस के स्तर को ऊँचा उठाने में निश्चित ही हमें कलाओं की ओर झुकना होगा। साहित्य ही इस दायित्व का वहन कर सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के प्रसार के साथ साथ साहित्य का प्रचार और प्रसार हो। इसीसे ऊब जो वास्तव में हर व्यक्ति अनुभव कर रहा है, वह दूसरा समझ सकेगा और उसके दूर करने के लिअे उपायों पर विचार करेगा। विचारों में क्रांन्ति लाने या रूढ विचारों को हटाकर नये युग के अनुकूल वैज्ञानिक विचार धारा को जनता में फैलाने के लिए साहित्य और कला की ही आवश्यकता होती है। साहित्य और कला के माध्यम से ही विचारों का संक्रमण संभव है। इससे बढ़कर और न कोई माध्यम हो सकता है और न ही इसकी संभावना की जा सकती है। जो कार्य पहले धर्म कर रहा था आज वही कार्य साहित्य को करना है वरन् मानवता खतरे में पड़ जायगी।

○ ○

अलगाव

जीवन यदि निरर्थक लगने लगे, व्यक्ति को लगे कि उसे धोखा दिया जा रहा है, उसके साथ विश्वासघात हो रहा है या सारे वायदे झूठे साबित हो रहे हैं अथवा कुछ इसी तरह की स्थिति हो जिससे निरर्थकता का बोध हो तो फिर व्यक्ति कट जाता है। इस कटाव की बेचैनी में व्यक्ति का 'स्व' अकुलाता है। 'स्व' का संबंध व्यक्ति की स्वतंत्रता से है। इस स्वतंत्रता से कटने का बोध अलगाव है। इस अलगाव को मुक्ति, विरक्ति या छुटकारे की भावना नहीं कह सकते। डॉ. शिवदानसिंह चौहान ने 'आधुनिक समाज में अलगाव कि समस्या' (दिसंबर १९६६, आलोचना पूर्णांक ३७ का संपादकीय) निबंध लिखा है। इस निबंध में उन्होंने अलगाव के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है और अंत में निष्कर्ष रूप में लिखा हैं :—

"चूंकि अलगाव की समस्या के प्रति हमारे देश के बुद्धिजीवी भी अब सचेत हो गये हैं, आवश्यकता इस बात की है कि इसपर गंभीरतापूर्वक हर पहलू से विचार किया जाय। जीवन को बेमानी समझनेवाले व्यक्तियों की भी आंतरिक इच्छा यही हैं कि जीवन में सार्थकता नजर आए, क्योंकि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य आज भी स्वतंत्रता की प्राप्ति हैं। वह अपने से ही बेगाना नहीं होना चाहता,

कर्ता का गौरव प्राप्त करना चाहता है और चाहता है कि सामाजिक जीवन इसके लिए उसे अनुकूल अवसर प्रदान करे। (आलोचना, पूर्णांक ३७, पृ. ८ से)

इस प्रकार की निरर्थकता का बोध क्यों होता है ? आप कोई योजना बनाएँ और तदनुसार परिश्रम करें किंतु जब योजना परिश्रम के बावजूद फलीभूत होती प्रतीत नहीं होती तो योजना बेमानी हो जाती है। उपाधि ग्रहण की है रसायन शास्त्र में और काम कर रहे हैं हिन्दी पढ़ाने का या किसी विषय में विशेषज्ञता प्राप्त की है और उसकी मांग नहीं है। ये स्थितियाँ ऐसी हैं, जिसमें श्रम तथा प्रतिभा अवसर की खोज में है किन्तु अवसर न मिलने के कारण निरर्थकता का बोध होता है। उपाधिधारी विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है किन्तु सब के लिए उचित अवसर प्रदान करना अपने आप में समस्या है। पेट भरने के लिए, व्यक्ति फिर कुछ भी करता है। जो मिल जाए, उसे स्वीकार करता है। विवशता की इस स्वीकृति मे कुछ कटता अवश्य है। व्यक्ति का 'स्व' कर्त्ता के रूप में स्वतंत्र रहे और उसे सृजन का आनंद मिले तो फिर उसे अलगाव का अनुभव नहीं होगा। यह स्थिति कठिन है। स्थिति यह है कि उद्देश्य फलीभूत नहीं होते। व्यक्ति को अनेक प्रकार के कटु अनुभव होते हैं। ये अनुभव उसकी आस्था को झकझोरते हैं और तब व्यक्ति जीवन को निरर्थक समझने लगता है। ऐसा इसलिए भी हो रहा है कि व्यक्ति अब अपने 'स्व' को ईश्वर पर क्षेपित नहीं कर रहा है। नियति को मानकर चले तो फिर जिम्मेदारी 'स्व' की नहीं, नियति की होगी। अतः इस समस्या से वे लोग ही अधिक ग्रस्त है, जो अपने 'स्व' को बचाए रखना चाहते हैं। विशेष रूप से आज का बुद्धिजीवी प्राणी, जिन्हें अपने 'स्व' का बोध हो गया है, आज के प्रशासकीय ढाँचे से अपने को त्रस्त अनुभव कर रहा है। औद्योगीकरण के कारण संगठनों का बल बढ़ गया है। इस सम्बन्ध में आधुनिक प्रशासकीय ढाँचे पर मैक्स–वेबर की विचारधारा को व्यक्त करते हुए प्रो. राइनहार्ड बैण्डिक्स ने लिखा है :—

'एकत्रीकरण की यह प्रक्रिया (प्रशासकीय साधनों के एकत्रीकरण की) न केवल आर्थिक क्षेत्र में हुई हैं, अपितु सरकार, सेना, राजनीतिक दल, विश्वविद्यालय और वस्तुतः सभी बडे संगठनों में हुई है। ज्यों–ज्यो ऐसे संगठनों का आकार बढ़ता हैं, त्यों–त्यों इनके चलाने के साधन स्वतंत्र व्यक्तियों और समूहों के हाथ से छीन लिये जाते हैं और शासन करनेवाले अल्पसंख्यक समूह के अधिकार में दे दिये जाते हैं। इसका एक आंशिक कारण

यह है कि ये साधन व्यक्तियों की आर्थिक क्षमता से कहीं अधिक होते हैं। इस प्रकार जब व्यापारियों के उद्यमों ने उत्पादन के औजारों पर अधिकार किया तो कारीगर के अधिकार छिन गए; जब सरकारों ने सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन पर एकाधिकार कर लिया तो सामन्ती अधीन सरकार के अधिकार छिन गए, जब विश्वविद्यालयों ने अपनी प्रयोगशालायें और पुस्तकालय बना लिये, जिन पर विद्वान् निर्भर होने लगे तो व्यक्तिगत रूप से काम करनेवाले विद्वान् के अधिकार छिन गये। एक समय में उत्पादन, प्रशासन एवं विद्वत्ता के साधन घर के अभिन्न अंग थे, पर ज्योंही एकत्रीकरण की प्रवृत्ति बढी, ये सब साधन घर से अलग हो गये। फलतः आधुनिक कर्मचारीतन्त्रीय प्रशासन की विशेषता परिवार से व्यापार, पदाधिकारी से पद और विद्वान् से गवेषणा की सुविधाओं को अलग करने पर निर्भर है।'[1]

व्यवस्था ऐसी है कि व्यक्ति संगठनों के सामने बौना हो जाता है। चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता। वह अपने को तब निरर्थक अनुभव करने लगता है। निरर्थकता की अनुभूति से आस्था में कमी आती है। जीने का उत्साह कम होता है तथा एक प्रकार से खोखलेपन का बोध होता है।

इस प्रकार की मनोवृत्ति के लिये कुछ सीमा तक वैज्ञानिक समाज भी जिम्मेदार है। विज्ञान का प्रभाव मनोभावों पर पड़ता है। इस प्रभाव को व्यक्त करते हुए बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है :—

> "ज्ञान के जिस प्रेम की देन स्वयं विज्ञान है, वह स्वयं ही दो प्रकार के मनोवेगों का परिणाम है। किसी पदार्थ के संबंध में हम ज्ञान की खोज इसलिए भी कर सकते हैं कि उस पदार्थ से हमें प्रेम है अथवा इसलिए कि हम उस पदार्थ पर अधिकार-शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। पहले प्रकार का मनोवेग हमें उस ज्ञान की ओर ले जाता है जो चिन्तनमूलक है और दूसरे प्रकार का मनोवेग हमें व्यावहारिक ज्ञान की ओर ले जाता है। विज्ञान के विकास में शक्ति का मनोवेग अधिकाधिक रूप में प्रेम के मनोवेग पर हावी होता गया है। शक्ति का मनोवेग उद्योगवाद में और शासकीय तकनीक में प्रकट हुआ है।"[2]

---

१. मैक्स वेबर, एक बौद्धिक व्यक्तित्व – मूल लेखक : प्रो. राइनहार्ड बेण्डिक्स, अनुवादक : कैलासनाथ शर्मा, पृ. ४६५.

२. वैज्ञानिक परिदृष्टि, बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक : गंगारतन पाण्डेय, पृ. २०३ तथा २०४.

इस स्थिति में मानव को जिस संकट का सामना भविष्य में करना पड़ सकता है, उस ओर संकेत करते हुए रसेल ने लिखा है :—

"विज्ञान ने अधिकाधिक रूप में प्रेममूलक ज्ञान के स्थान पर शक्तिमूलक ज्ञान को प्रतिष्ठित किया है और जैसे जैसे यह परिवर्तन अधिकाधिक पूर्ण होता जाता है, वैसे वैसे विज्ञान अधिकाधिक पर-पीड़न–रत होता जाता है। भविष्य के जिस वैज्ञानिक समाज की कल्पना हम करते आ रहे हैं, वह ऐसा समाज होगा जिसमें शक्ति के मनोभाव ने प्रेम के मनोभाव को पूरी तरह पराजित कर दिया होगा और जिस प्रकार की निर्दयताओं का प्रदर्शन ऐसे समाज में किये जाने का खतरा है उनका मनोवैज्ञानिक उद्गम यही है।"[३]

ये सब कारण हैं। विज्ञान महाशक्ति का द्योतक होने के नाते वह भूत के रूप में मनुष्य पर सवार है। यह भूत ऐसा है जिसे मनुष्य ने स्वयं बनाया है और वह उसी के नियंत्रण से बाहर है। जो भूत बोतल में बन्द था वह बाहर आ गया है और अब मनुष्य के लिए यह कठिन हो गया है कि इस भूत को फिर बोतल मे बंद कर दे। विज्ञान की संस्कृति संगठन और महाशक्ति की संस्कृति है। इस संस्कृति में समुदाय बलशाली है और व्यक्ति अकेला है। यह हो रहा है। यह प्रक्रिया इस शताब्दी में जारी है। इससे अपना देश बचा हुआ नहीं है।

अलगाव के कारण ज्ञात हैं। इन कारणों को जैसे जैसे समस्या के सही परिप्रेक्ष्य में जानेंगे, वैसे वैसे हम उससे मुक्त होने का प्रयास भी कर सकेंगे। इससे मुक्त होने के लिए 'स्व' में आस्था जगानी पडेगी। जीवन को सार्थक बनाने के लिए आत्मबल अपेक्षित है, संसार में जो महान चिन्तक हुए हैं तथा जिन्होंने विश्व को नई विचारधारा दी है, उन्होंने अलगाव की समस्या को किसी–न–किसी संदर्भ में अनुभव किया है और निरर्थकता के भीतर से ही सार्थकता की खोज कीं है। औरों से लड़ने के बजाय अपने आपसे लड़ना अधिक कष्टकर है। जब हम अपनी बात पर विश्वास नहीं करते, तो फिर उसी बात पर दूसरों को विश्वास कैसे दिला सकते हैं? व्यक्ति प्रथमतः अपने तईं स्पष्ट होना सीखे तो वह औरों के सामने भी स्पष्ट होकर आ सकता है। यह कार्य बड़ा कठिन है। इसके लिए चिन्तन की आवश्यकता है। अन्ततः व्यक्ति यदि आत्मबल के सहारे अकेले रहने में सुख का अनुभव करना सीख जाए तो फिर वह अपने जीवन को निरर्थक अनुभव नहीं करेगा। अकेले रहकर सुख

---

३. —वैज्ञानिक परिदृष्टि—बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक: गंगारतन पांडेय, पृ. २०५ तथा २०६.

का अनुभव करना आत्मनिर्भर बनना है। जो दूसरों पर निर्भर नहीं, वह निश्चित ही सुखी है। किन्तु यह कार्य बहुत कठिन है। साधारण व्यक्ति इतना बल कहाँ से पाएँ? साधारण व्यक्ति तो सहज आवेगों (उद्वेगों) का दास होता है। इन आवेगों से ऊपर ऊठकर बौद्धिक जगत में जब तक प्रवेश नहीं किया जाता तब तक जीवन को सार्थकता को ओर प्रवृत्त करना कठिन ही है। फिर बौद्धिक जगत में प्रवेश करने के बाद भी यदि समुदाय या संगठन का बल अधिक त्रस्त करे, तो उसका सामना करने के लिए साहस अपेक्षित है। यह साहस साधारण व्यक्ति कहाँ से पाए? जीवन को सार्थक बनाने के लिए निवृत्तिमूलक दर्शन अपनाना कुछ सीमा तक बहुत आवश्यक है। यहाँ निवृत्ति का अर्थ तात्कालिक लाभों से है। त्याग के बिना संचय नहीं होता। आज के वैज्ञानिक युग में अनेक आकर्षक रूपों के विद्यमान होने के कारण इच्छाएँ तात्कालिक लाभ की ओर प्रवृत्त होती हैं और नगद लाभ चाहती हैं। और जब हाथ कुछ नहीं आता तो फिर ... फिर ... मन टूट जाता है। यह टूटन निरर्थकता का बोध कराती है, और यही अलगाव है।

जीवन को सार्थक बनाने के लिए शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। मनुष्य जीवन के सांस्कृतिक मानदण्डों का उचित बोध शिक्षा का उद्देश्य हो। विचारों की स्पष्टता तथा विचारों के प्रति गहरी आस्था का भाव शिक्षा जगाये। आज शक्ति जिन व्यक्तियों के हाथों में है, उन्हें यदि अतीत का स्पष्ट बोध हो और हमारी पीढी अतीत की विरासत (सांस्कृतिक विरासत को) को शिक्षा के माध्यम से ग्रहण करे तो विज्ञान की महाशक्ति को व्यावहारिक उपयोगिता के साथ साथ प्रेम और मानवीय उद्वेगों को सहज बनाने में काम में लाया जा सकता है। अन्ततः मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है। इस अध्यात्म बोध को विज्ञान समाप्त करना चाहे तो फिर मनुष्य मशीन का पुरजा मात्र रह जायेगा। पुरजा उसी समय सार्थक हो सकता है, जब उसे मशीन में जगह मिल जाये अन्यथा वह निरर्थक और अकेला है। हम चाहते हैं कि पुरजे न बनें। अध्यात्म का भाव हममें हो। यह भाव ही हमें अलगाव से मुक्त कराने में सहायक हो सकता है।

○ ○
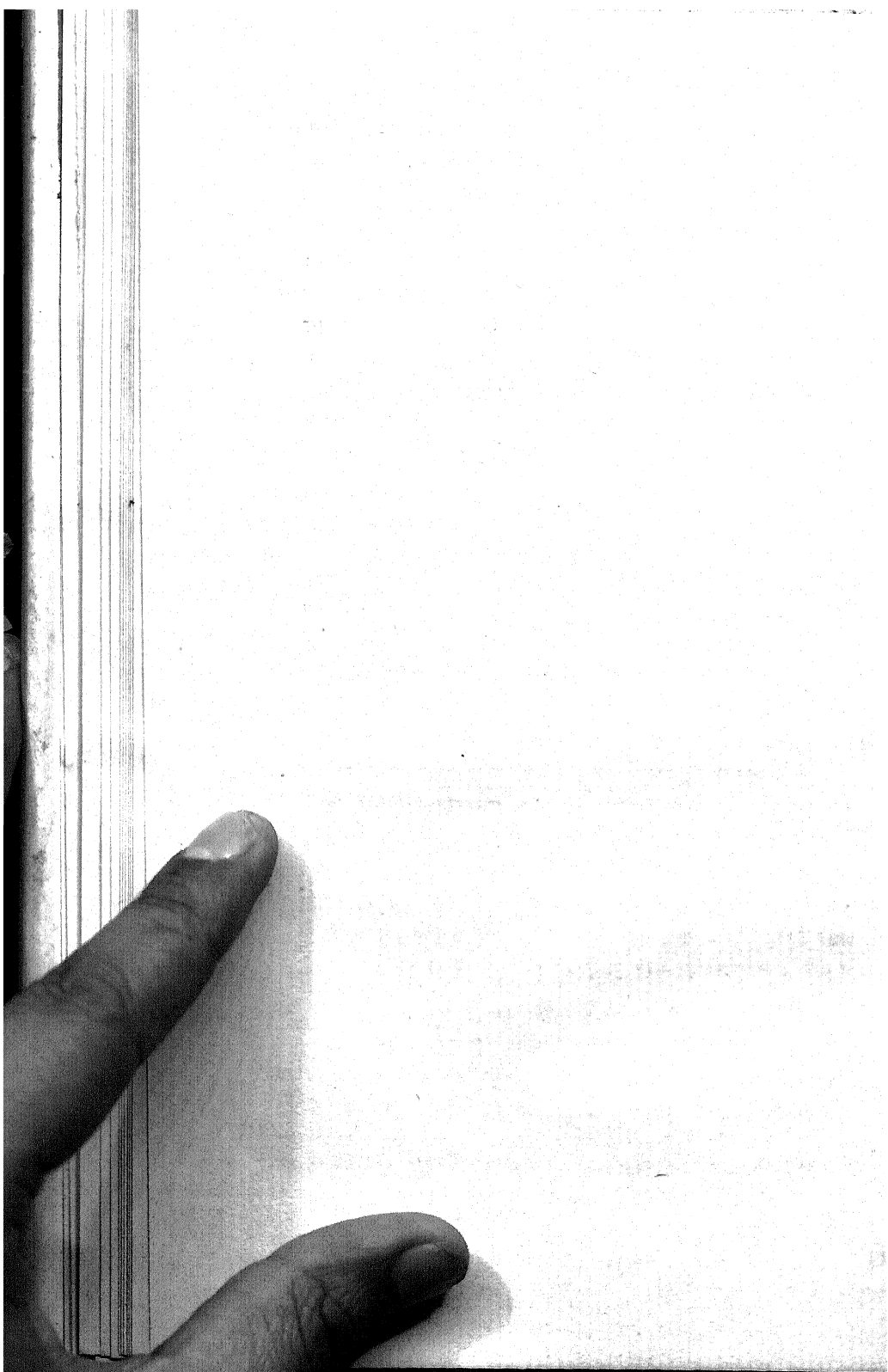
उपेक्षा

उपेक्षा वस्तुतः सामाजिक अस्वीकृतिमूलक मौन भावना है, जो बचनों में कम और व्यवहारों में अधिक व्यक्त होती है और इसके व्यक्त होने का बोध जब उपेक्षित पात्र को होता है, तो इससे उसकी आत्मा को चोट पहुँचती है। यह चोट कितनी गहन होती है, इस शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। समझदार की मौत है, न समझो तो कुछ नहीं। जो अपने को उपेक्षित नहीं समझते और हर हालत में खुश रहना सीख लेते हैं, उनके लिए यही कहा जा सकता है कि उन्होंने परिस्थितियों से समझौता कर लिया है या फिर वे अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत नहीं हैं। उपेक्षा से बचने के लिए हर बुद्धिमान व्यक्ति प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न अपनी आत्मा को स्वतंत्र रखने के लिए किया जाता है। उपेक्षा का चरम बोध व्यक्ति को आत्महत्या के लिए विवश करता है। आत्म-हत्या की घटनाओं की जाँच की जाय तो पता चलेगा कि आत्महत्याएँ प्रायः उपेक्षा के बोध के कारण भी हुई हैं।

जैसे कि पहले ही कहा गया है, उपेक्षा सामाजिक अस्वीकृतिमूलक भावना है। अर्थात् जो है (वास्तव में है), उसको अस्वीकार करना और यह अस्वीकार व्यवहारों में जतलाना तथा मौन भाव से देखकर भी अनदेखा हो जाना, सुन कर भी अनसुना हो जाना, कहने के स्थान पर अनकहे रह जाना

और तो और अपनी अनुपस्थिति से भी उपेक्षा का बोध औरों को करवाना। इस तरह उपेक्षा में अस्तित्व को नकारा जाता है ।

मनुष्य सामाजिक रूप में अपनी स्वीकृति का बोध चाहता है। उसका यह चाहना स्वाभाविक है। चाहे छोटा बालक हो या वृद्ध हो, कोई हो उसके मन में यह ललक है कि उसके होने को स्वीकार किया जाय। इस स्वीकृति के आधार पर उसे जीने के लिए आत्मबल मिलता है। इस स्वीकृति के लिए मनुष्य सब प्रकार के प्रयत्न करता है। सामाजिक स्वीकृति के आधार पर मनुष्य का आत्मबल बढ़ता है और उसके सुख में वृद्धि होती है ।

उपेक्षा का विश्लेषण वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों धरातल पर किया जा सकता है । एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की उपेक्षा करता है, यह उपेक्षा का वैयक्तिक रूप है । इसी तरह एक समूह, दूसरे समूह की उपेक्षा करता है, यह सामाजिक रूप है । सामाजिक रूप में उपेक्षा वर्ग वर्ग के बीच, जाति जाति के बीच, राष्ट्र राष्ट्रके बीच देखी जा सकती है। वैयक्तिक उपेक्षा हो या सामाजिक उपेक्षा दोनों ही सामाजिक मूल्यों को प्रभावित करते हैं और इस आधार पर समाज में प्रचलित व्यवस्था का बोध होता है। सब प्रकार की उपेक्षा में अस्तित्व को नकारने की भावना है। अतः यह भावना तथ्यों के विपरीत है (अर्थात जिसका अस्तित्व है, फिर भी नकारा जा रहा है।) तो इससे समाज में कई प्रकार की समस्याएँ पैदा होती हैं और समाज का सन्तुलन बिगड़ जाता है । इस आधार पर सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण किया जा सकता है ।

उपेक्षा व्यक्ति के विकास में बाधक है । प्रतिभाशाली व्यक्ति को उचित प्रोत्साहन मिले तो उसका विकास होता है। प्रोत्साहन न मिले तो न मिले, कम–से–कम उपेक्षा तो न हो। जब उपेक्षा होने लगती है, तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है । जो भावना एक बार व्यक्ति के हृदय में घर कर जाती है, उससे सहज छुटकारा संभव नहीं है। यदि प्रतिभाशाली व्यक्तियों के जीवन का अध्ययन किया जाय, तो इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं। उपेक्षामयी वृत्ति के शिकार होने के कारण उनकी विचारधारा प्रभावित हुई है और उनके जीवन के सिद्धान्त भी इससे बदले हैं। शॉपेनहावर को अपनी माता का सुख नहीं मिला। उसकी माता नें सदैव उसकी उपेक्षा की। परिणाम यह हुआ की शॉपेनहावर की धारणा स्त्रियों के सम्बन्ध में बदल गई और अपनी इन धारणाओं का समर्थन उसने अपने दार्शनिक ग्रंथों में किया है। शॉपेनहावर के पिता ने आत्महत्या की। उसकी माता प्रतिभाशाली लोकप्रिय उपन्यास–लेखिका थी। उसने अपने

नीरस पति की मृत्यु के बाद प्रेम-विवाह किया। शॉपेनहावर पर इसका अच्छा असर नहीं पड़ सकता था। उसकी माता को गेटे ने कह दिया था कि उसका पुत्र प्रसिद्ध व्यक्ति बननेवाला है। इससे सम्बन्ध और बिगड़ गए। उसकी माता का विश्वास था कि एक परिवार में दो प्रतिमा–सम्पन्न व्यक्ति कभी नहीं हो सकते। कहते है, यह बात यहाँ तक बढ़ गई कि एक बार झगडे में माँ ने अपने पुत्र को जीने से धक्का देकर नीचे गिरा दिया। इस पर शॉपनहावर ने कहा कि केवल मेरे नाम पर ही तुम्हारा वंश चलेगा। इन घटनाओं के संदर्भ में शॉपनहावर ने नारी के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा, वह उचित ही कहा जा सकता है। वह आजीवन अविवाहित ही रहा।[1] मादाम रोलाँ के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह कट्टर लोकतंत्रवादी थी। इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है– 'मादाम रोलाँ के संस्मरण पढ़िये, जिनके बारे में अक्सर कहा जाता है कि उनका व्यक्तित्व बहुत उदात्त था और उन्हें जनता से हार्दिक प्रेम था। आपको पता चलेगा कि जब कभी वह किसी जागीरदार की हवेली में जाती थी तो उन्हें नौकरों के कमरे में बैठाया जाता था और इसी अनुभूति ने उन्हें इतनी कट्टर लोकतंत्रवादी बना दिया था।[2]' व्यक्ति को अपने जीवन में जब जब उपेक्षा सहनी पड़ती है, तो उसका प्रभाव उसकी विचारधारा पर पड़ता है और इस आधार पर उसके सिद्धान्त बदलते हैं। सिद्धान्त इसलिये बदलते हैं कि व्यक्ति देखता है कि उसे नकारा जा रहा है। अतः उसके विश्वास को (आत्मबल को) चोट पहुँचती है और वह अपने विश्वास को (सिद्धान्त को) बदलने पर विवश हो जाता है। यदि प्रतिभा बलवान है और अभिव्यक्ति का मार्ग मिल जाता है, तो इससे प्रतिभा जी जाती है उपेक्षणीय स्थिति यदि अनभिव्यक्त रह जाती है, तो इससे विकास अवरुद्ध हो जाता है और प्रतिभा पनपते पनपते रह जाती है।

कहावत है – 'एक अनार और सौ बीमार', युग प्रतियोगिता का है और अवसर योग्यतम होने पर भी मिल ही जायगा, ऐसा नहीं है। हर जगह पंक्तियाँ लगी हुई हैं, कतारें ही कतारे खडी हैं। सभी अवसर की प्रतीक्षा में हैं। इसी प्रतीक्षा का लाभ किसी किसी को प्राप्त हो जाता है, सब को नहीं। ऐसी स्थिति में जिनको यह लाभ प्राप्त नहीं होता, उनमें असंतोष की भावना

---

१. दर्शन की कहानी – विलडूरेंट (अनुवादकः कैलाश नारायण चौधरी) पृ. ३०१–३०२

२. सुख की साधना–बर्ट्रेण्ड रसेल. (अनुवादकः ख्वाजा बदीउज्जमा) पृ. ६६.

घर कर जाती है । वे सब अपने को उपेक्षित अनुभव करते हैं । तथ्यों के आधार पर उपेक्षित वर्ग जब सुविधाप्राप्त वर्ग को निहारते हैं तो उन्हें लगता है कि उनके साथ अन्याय हुआ है । शिक्षित समाज में (अपने अधिकारों का बोध हो जाने के कारण) असंतोष की भावना बढ़ रही है । बात यह है व्यक्ति अपने ऐतिहासिक मूल्यों से कट गया है । अपने आपको जब वह नये सामाजिक मूल्यों के साथ जोड़ने का प्रयास करता है तो उसे काफी संघर्ष करना पड़ता है और इस संघर्ष में उसकी योग्यता के अनुसार उसे स्थान प्राप्त हो जायेगा, इस बात का विश्वास नहीं है । यह अवसर की बात है । आज का उपेक्षित व्यक्ति अपने आपको अपने बचाव में कुछ करने में असमर्थ अनुभव करता है । इस स्थिति में उसकी पीड़ा बहुत तीव्र हो जाती है । उपेक्षा के कारण व्यक्ति संदर्भहीन हो गया है । वह संदर्भों की खोज में है । उसकी हालत उन पुरजों की तरह है, जिनको अभी मशीन में फिट होना है । किस पुरजे को मशीन में जगह मिलेगी, यह नहीं कहा जा सकता । अतिरिक्त पुरजे की तरह वह प्रतीक्षा में है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अस्तित्व संदर्भों के अभाव में नकारात्मक स्थिति में--होने पर भी न होने के स्थिति में--है । इसीलिए व्यक्ति अकेला पड़ गया है और अपनी पहचान के लिए व्याकुल है ।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी पहचान के लिए संदर्भों की तलाश में है । व्यक्ति की पहचान व्यक्ति होने के नाते नहीं होती, संदर्भों के नाते होती है, इस बात को व्यक्ति अब जान रहा है । यह वैज्ञानिक युग की देन है । यदि व्यक्ति की पहचान, संदर्भों के अभाव में व्यक्ति होने के नाते हो, तो निश्चित ही उसके सुख में वृद्धि होगी और उसके अस्तित्व को स्वीकृति मिल (सामाजिक स्वीकृति) गई ऐसा कहा जा सकेगा । इस स्थिति तक पहुँचना आज की मुख्य (व्यक्ति की) समस्या है ।

व्यक्ति से हटकर समूह की उपेक्षा को देखें तो स्थिति और भयानक प्रतीत होगी । समाज में जातियाँ हैं, वर्ग हैं, श्रेणियाँ हैं और इन सब में जो भेदभाव है, वह उपेक्षा का कारण है । यदि ऐतिहासिक मूल्यों को स्वीकार कर लेते हैं या पारम्पारिक मूल्यों को मान लेते हैं, तो समूह अपने मूल्यों को ढोता हुआ जी जाएगा और उपेक्षा को उपेक्षा के अर्थ में न लेकर 'ऐतिहासिक स्थिति (परम्परा से प्राप्त तथा मान्य स्थिति) पर संतुष्ट रहकर अपनी जीवन यात्रा पूरी कर लेगा । ऐसा आज भी बहुत जगह (विशेष रूप से गाँवों में) है । किन्तु जहाँ परिवर्तन हो रहा है और जातियों के बीच, वर्गों के बीच, श्रेणियों के बीच संघर्ष होने लगा है, उसके पीछे अेक समूह की उपेक्षा

दूसरे समूह के साथ है, इसके कारण स्पष्ट हो रहे हैं और इनकी ऐतिहासिक स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। समूह, निश्चित ही व्यक्ति से अधिक बलवान है। इससे समूह का सामना करना व्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत कठिन है।

उपेक्षा को भाव रूप में अनुभव उसी समय किया जाता है, जब व्यक्ति का 'स्व' जाग जाता है। ऐतिहासिक स्थितियों को स्वीकार कर लेने पर या अपने को परिस्थिति पर छोड़ देने पर या संदर्भों की तलाश में भटकने पर भी यदि 'स्व' जागता नहीं है तो उपेक्षा का अनुभव नहीं होता, उपेक्षा का अनुभव होना जागरण का द्योतक है। इसकी पीड़ा बुद्धिमान व्यक्ति को अधिक होती है। इस यातना को न सह पाने के कारण बुद्धिमान व्यक्ति भी जब यह देखता है कि स्थिति पर वश पाना कठिन है, तो वह आत्महत्या कर लेता है। यह स्थिति अन्तिम स्थिति है, उपेक्षा के बोध के कारण व्यक्ति का 'स्व' विघटित होता है। इस विघटन की अभिव्यक्ति आधुनिक साहित्य में दिखलाई दे रही है।

उपेक्षा का प्रयोग आजकल दण्ड रूप में किया जा रहा है। इस शस्त्र के प्रयोग से अनुशासन किया जाता है। उपेक्षा के भय से व्यक्ति अपने 'स्व' को समर्पित कर रहा है। यदि इस समर्पण का वह आदी हो जाता है, तो वह अनुशासन का अंग हो जाता है और व्यवस्था चल पड़ती है। यदि ऐसा नहीं होता है, तो वह तंत्र से अपने को अलग कर लेता है और नये संदर्भ की तलाश करता है।

उपेक्षा को वरदान मानकर प्रतिभाशाली लोग इन कारणों की तलाश करते हैं और अपने स्वानुभव के आधार पर उनका निदान खोजने का प्रयास करते हैं। महात्मा गान्धी को अफ्रिका में उपेक्षा (वैयक्तिक रूप में) सहनी पडी। उन्होंने उसके कारण की खोज की और उसके विरोध में अपनी आवाज उठाई। उनका 'स्व' जाग गया। उनका यह 'स्व' समूह के 'स्व' में सम्मि–लित हो गया और इस दृष्टि से सत्याग्रह का जो प्रयोग उन्होंने अफ्रिका में किया, उसमें उन्हें सफलता मिली और बाद में तो हम देखते हैं कि भारत में उन्हें सफलता मिलती गई। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में उपेक्षा सहनी पड़ती है। इसको सहन करने के लिए आत्मबल की आवश्यकता है। आत्मबल के अभाव में व्यक्ति घबरा जाएगा और घुटने टेक देगा। जिसमें आत्मबल होगा, वह आत्महत्या नहीं करेगा। अपनी उपेक्षा को वह समूह की उपेक्षा में बदल कर उसके निदान का प्रयत्न करेगा। जब अपनी उपेक्षा (उसके अपने 'स्व' की उपेक्षा) समूह की उपेक्षा के रूप में व्यक्ति अनुभव करने लगेगा तो उसका दु:ख हलका हो जाएगा और यहीं से वह आत्मबल ग्रहण करने लगेगा।

○ ○
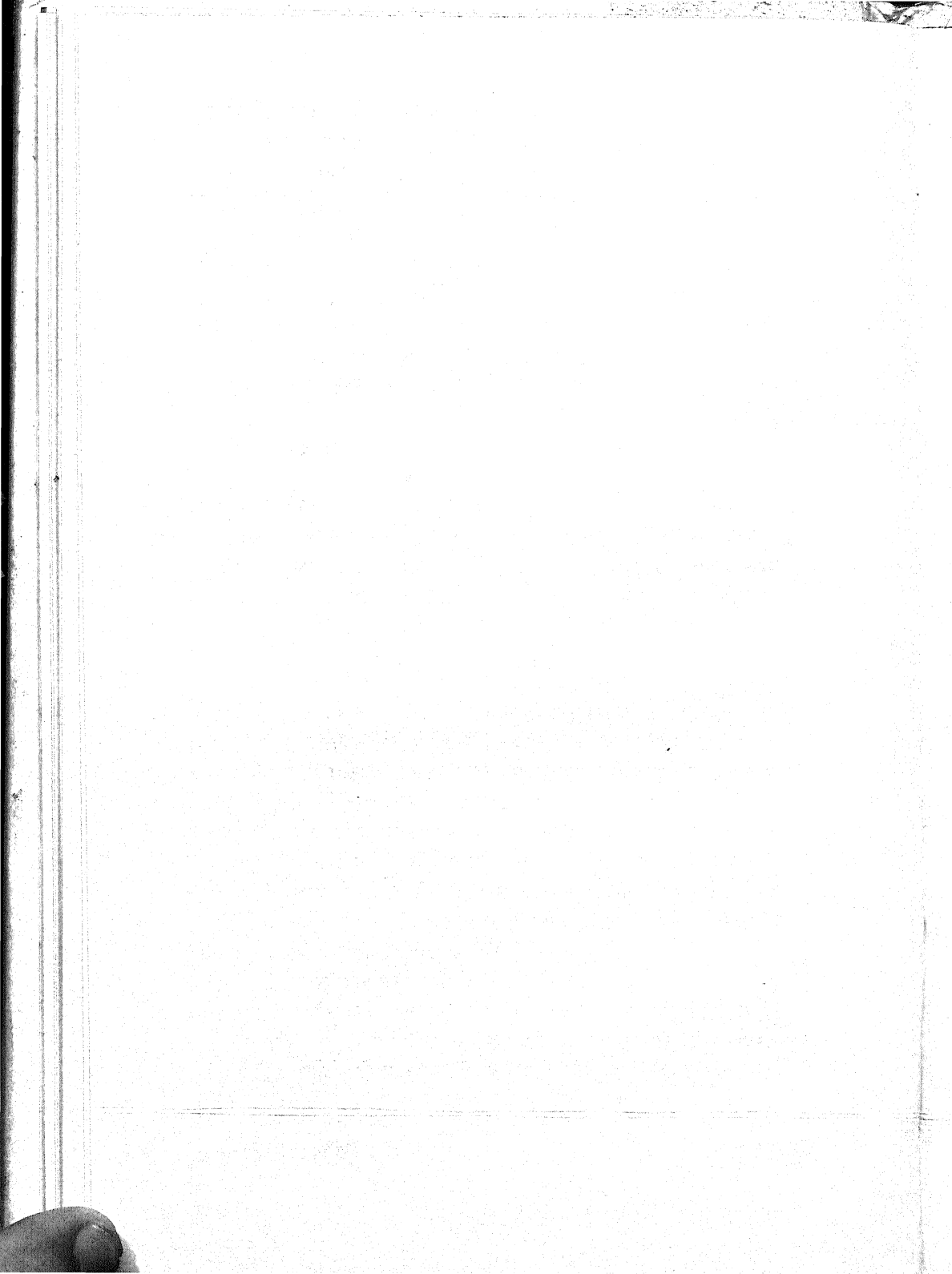
भूलना

भूलना मानसिक क्रिया है, जिसमें चेतना स्खलित हो जाती है और स्मृति–शक्ति उन क्षणों में लुप्त हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर बड़ा मनोरंजक है। इसलिए कि इसका उत्तर और ठीक उत्तर मनुष्य की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने पर ही दिया जा सकता है। दैनिक जीवन में मनुष्य बहुत–सी बातें भूल जाता है और जिन्हें भूल जाना ही अच्छा समझना चाहिए। यदि मनुष्य उन तमाम बातों को याद रखे, जिनके वह संपर्क में आता है तो फिर वह भूत हो जायगा। मनुष्य का जीवन तो भूलों से भरा हुआ है और इन भूलों के कारण ही वह मनुष्य बना हुआ है। भूल की पहचान और उसका समाहार मनुष्य की पहचान है। वास्तव में मनुष्य भूल न करता तो मनुष्य को प्यार भी न मिलता। प्रेम–कथाओं से भूल को हटा दीजिए, कथा शुष्क हो जाएगी।

मनुष्य प्रायः उन स्थानों पर, उन मामलों में और उन बातों में 'भूल' कर बैठता है, जिनसे उसकी इच्छा–शक्ति का सम्बन्ध नहीं होता। अतः किसी मनुष्य के भूलनेवाले प्रसंगों के आधार पर उसकी इच्छा–शक्ति का नकारात्मक बोध हो जाता है। मनुष्य चेतनावस्था में चाहता है कि वह भूल न करें, क्योंकि भूल का परिणाम उसे भुगतना पड़ता है किन्तु चाहने पर भी

इच्छा–शक्ति के विपरीत बात होने के कारण (व्यक्ति की इच्छा–शक्ति सुप्तावस्था में भी कार्य करते रहती है और चेतनावस्था में वह क्या कार्य कर रही है इसका बोध व्यक्ति को नहीं होता।) वह भूल कर बैठता है। वह स्वयं जब अपनी भूल को पहचान कर भूल के कारण का विश्लेषण करने लगे, तब भी शीघ्र उसे कारण समझ में नहीं आता। मनुष्य के चरित्र का आधार, मनुष्य की इच्छा–शक्ति है और यह इच्छा–शक्ति मनुष्य की बुद्धि पर शासन करती है। होना तो यह चाहिए कि बुद्धि का इच्छा–शक्ति पर शासन हो किंतु होता विपरीत है और वह यह कि इच्छा–शक्ति बुद्धि को नियंत्रित करती रहती है, नियंत्रित ही नहीं करती बल्कि बुद्धि से वह पूरा–पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न भी करती है।

यह मानी हुई बात है कि भूल से बचने के लिए वायदे किए जाते हैं, शपथ खाई जाती है और गाँठ–बांधी जाती है, इस पर भी भूल हो ही जाती है और खिसियाये रूप में चाहनेवालों का सामना करना पड़ता है, या अधिकारी के सामने अपराध की भावना लिए खड़ा रहना पड़ता है। इस 'भूल' के पीछे दो विरोधी आशय एकसाथ काम करते रहते हैं। इच्छा–शक्ति से विपरीत आशय होने पर भूल हो जाती है और इच्छा–शक्ति से युक्त आशय होने पर भूल नहीं होती।

फ्रायड ने गलतियों का मनोविज्ञान समझाते हुए भूलने के अनेक उदाहरण दिए हैं। उसी के अनुसार एक प्रसिद्ध जर्मन रसायनशास्त्री का विवाह इस कारण कभी न हो सका क्योंकि वह संस्कार का समय भूल जाता था और चर्च पहुँचने के बजाय प्रयोगशाला पहुँच जाता था। वह समझदार था, इसलिए एक बार प्रयत्न करके ही उसने अपना हाथ खींच लिया और बहुत बडी उम्र में अविवाहित ही मरा। प्रोफेसरों के भूलने की इस तरह कई कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, वह व्यक्ति अधिक भूलें करता है जो केवल चिन्तन के आधार पर काम करता रहता है। चिन्तन में बुद्धि कार्य करते रहती है और बुद्धि के गतिशील रहने के कारण थकान का अनुभव होता है। बहुत देर तक यदि आँकडे मिलाते रहें और मस्तिष्क थक जाए तो साधारण जोड़ में भूलें हो जाती हैं। भूलों का एक कारण बौद्धिक थकान भी है। इसीलिए मस्तिष्क का काम करनेवालों के लिए निद्रा की आवश्यकता सब से अधिक है।

आज का जीवन इतना व्यस्त जीवन हो गया है कि समय के साथ मनुष्य को भागना पड़ रहा है। इस भागदौड़ में दिनचर्या की योजना पहले से ही लेखबद्ध हो जाती है। सवेरे उठने से लेकर रात में सोने तक

का समय बंध जाता है और इस मामले में भूल नहीं होनी चाहिए। अतः जिनके भूलने का अनुमान पहले ही रहता है, उनको लिख लिया जाता है कि अमुक समय में अमुक काम करना है और अमुक से भेंट करते समय अमुक–अमुक बात कहनी है। यदि यह सब लिख न लिया जाय तो समय पर भूलें हो जाती हैं और फिर लम्बे समय तक उस कार्य के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कई बार बाजार जाते समय यह सोच कर निकलते हैं कि बाजार से वस्तु विशेष खरीद कर लाना है और जब घर लौटते हैं तो पता चलता है कि ठीक वही वस्तु लाना भूल गए हैं, जिसके लिए घर से निकले थे। इसलिए पत्नी अपने पति को सामान की सूची देना अधिक पसन्द करती है जिससे कि पति महोदय सब याद रख सकें। इस पर भी भूल हो ही जाती है जिनके कारण मानसिक ताप सहना पड़ता है। इन भूलों के पीछे चाहे जो मनोविज्ञान हो किन्तु एक बात तो निश्चित रूप से इनमें है और वह यह कि सभ्यता के बढ़ने के साथ–साथ भूलने की प्रवृत्ति बढी है। भूल से बचने के लिए आज मनुष्य अनेक वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग कर रहा है और इससे अपना काम समय पर करने की आदत भी डाल रहा है फिर भी मनुष्य आखिर मनुष्य ही है और वह भूल से बच नहीं सकता।

भूलने की प्रवृत्ति बढ़ने का सब से बड़ा कारण यह है कि मनुष्य को आज बहुत से ऐसे कार्य करना पड़ रहा है, जिसमें उसकी अभिरुचि नहीं है, इस पर भी वे सब काम करना उसके लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। अतः ऐसें कामों को करते समय उसें बहुत सावधान तथा सजग रहना पड़ता है। मनुष्य को अनचाहे व्यक्तियों से मिलना पड़ता है, अनचाहे स्थानों पर जाना पड़ता है, अनचाही वस्तुओं के सम्पर्क में आना पड़ता है। अजनबियों के सम्पर्क के कारण और बदलती स्थितियों के परिवेश में न चाहने पर भी भूलें हो जाती हैं। व्यक्ति इन भूलों से अपने को बचा सकता है किन्तु इसकें लिए आवश्यकता इस बात की है कि वह प्रथमतः अपने मन में रुचि जाग्रत करें और अजनबियों के बीच अजनबी बनकर न रहे।

स्वप्नजीवी या दिवास्वप्न देखनेवालों से भूलें हो जाना स्वाभाविक है। शेखचिल्ली की कहानी इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध ही है। उसे अपनी भूल का ज्ञान उस समय हुआ जब बना–बनाया स्वप्न, जिसे वह सत्य मान बैठा था, भ्रम सिद्ध हुआ और उसे अपनी वास्तविक गलती का बोध हुआ।

छोटे बच्चों की स्मरण–शक्ति तेज होती है और इसकें कारण वे अपना पाठ कंठस्थ कर लेते हैं। कविता ही नहीं गद्यवाले अंश भी उन्हें पूरे

याद होते हैं और पूछने पर वे ज्यों–का–त्यों सुना सकते हैं किन्तु जैसें–जैसे वे बडी कक्षाओं में पहुँचते जाते है, उनकी इस प्रवृत्ति का ह्रास होता है। बच्चे जितनी जल्दी याद कर लेते हैं, उतनी जल्दी भूल भी जाते हैं। परीक्षा-प्रणाली में याद रखनेवाली प्रणाली को आज भी महत्ता प्राप्त है। जो अपनी पाठ्य–सामग्री को कंठस्थ कर लेते हैं, उन्हें अच्छे अंक मिलते हैं। कहा भी गया है कि विद्या कंठ में होनी चाहिए। जब आवश्यकता हो उसे दोहराया जाय किन्तु आज स्थिति यह हो गई है कि विद्या कंठ में नहीं, ग्रंथों में हैं। दिनोदिन ग्रंथालयों की आवश्यक्ता बढ़ रही है। हम अच्छे–से–अच्छे उपन्यास को रुचि के साथ पढ़ लें किन्तु उसका कथानक तथा पात्र हम बहुत शीघ्र भूल जाते हैं। सब से पहले हम व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को (पात्रों के नामों को) भूल जाते ह। इसलिए जब आवश्यकता होती है, तब हमें पुस्तक ही देखनी पड़ती है कि हम किस पात्र के सम्बन्ध में कह रहे हैं और उक्त पात्र का प्रसंग क्या है ? ऐसी स्थिति में पढी हुई पुस्तक का उपयोग उसी समय संभव है, जब वह पुस्तक अपने पास है। पुस्तक का उपयोग उस समय बढ़ता है और बढ़ता जाता है जब उसको दूसरी बार और बार-बार पढ़ा जाने लगता है और आवश्यकता-नुरूप उसका उपयोग किया जाने लगता है। आज की शिक्षा-प्रणाली में निजी पुस्तकालय का होना आवश्यक हो गया है। हमें अपने मस्तिष्क पर विश्वास नहीं है कि जो हम पढ़ लेतें हैं, वह सब याद हो जायगा। फिर पढ़ते समय प्रत्येक विषय और प्रत्येक तथ्य हमारे लिये रुचिकर होगा, ऐसा नहीं है। रुचिकर विषय तथा रुचिकर तथ्य याद रह जाते हैं किन्तु हमें अक्सर उन्हीं को याद करना पड़ता है, जो हमारे लिये रुचिकर नहीं हैं। फ्रायड ने इस सम्बन्ध लिखा है ' यह तो असंदिग्ध तथ्य है कि नापसन्द प्रभाव आसानी से भूल जाते है। अनेक मनोविज्ञान विशारदों ने इस पर विचार किया है और महान् डारविन तो इस बात से इतनी अच्छी तरह परिचित था कि उसने अपने लिए यह सुनहरा नियम बना लिया था कि जो प्रेक्षण उसे अपने सिद्धान्त के लिये प्रतिकूल प्रतीत होते थे उन्हें वह बडी सावधानी से लिख लेता था, क्योंकि उसे यह निश्चय हो गया था कि ये ही स्मृति से निकलकर भाग जाएंगे।' (मनोविश्लेषण, हिन्दी अनुवाद पृ. ३६)

कामायनी में श्री जयशंकर प्रसाद ने भूल का विश्लेषण किया है. पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :–

स्खलन चेतना के कौशल का
भूल जिसे कहते हैं,

एक बिन्दु, जिसमें विषाद के
नद उमड़े रहते हैं ।

आह वही अपराध, जगत की
दुर्बलता की माया,

धरणी की वर्जित मादकता,
संचित तम की छाया ।
—कर्म सर्ग से ।

भूल, चेतना के कौशल के स्खलन का बिन्दु है । इस बिन्दु में विषाद की नदियाँ उमड़ती रहती हैं । सोच लीजिए कि एक बिन्दु अपने भीतर कितने विषाद को समाए हुए है । भूल तो क्षणिक होती है किन्तु उसका परिणाम भयंकर होता है और जीवन भर उसका पश्चाताप बना रहता है । मनु की भूल से न केवल श्रद्धा को विषाद सहना पड़ा किन्तु स्वयं मनु को भी विषाद की यातना सहनी पडी है । मनु की इस भूल को श्रद्धा ने क्षमा किया और दया, माया, ममता सब कुछ अपनी ओर से दिया, श्रद्धा वास्तव में श्रद्धा सिद्ध हुई । वह भूल, अपराध हुआ और यह अपराध वस्तुतः जगत की दुर्बलता है । यह माया है । इसे धरणी की वर्जित मादकता कहा गया है और संचित तम की छाया भी । मनुष्य इस संसार में वर्जनाओं के बावजूद भूलें कर बैठता है । संचित तम उसे घेर लेता है ओर चेतना के कौशल पर पर्दा पड़ ही जाता है । भूल करते समय मनुष्य स्वप्नजीवी हो जाता है और उसकी बुद्धि मारी जाती है ।

मनुष्य यदि अपने जीवन के भूलनेवाले प्रसंगों को याद करें और उनका स्वयं विश्लेषण करने लगें तो उसका आत्मज्ञान बढ़ता है और अपने आपको पहचानने की शक्ति बढ़ती है । औरों को पहचानने की तुलना में आत्मनिरीक्षण निश्चित ही अधिक लाभदायी सिद्ध हो सकता है । मन के कई द्वन्द्व इस आत्म-निरीक्षण से दूर हो सकते हैं और इससे हमारे सुख में वृद्धि संभव है ।

○ ○
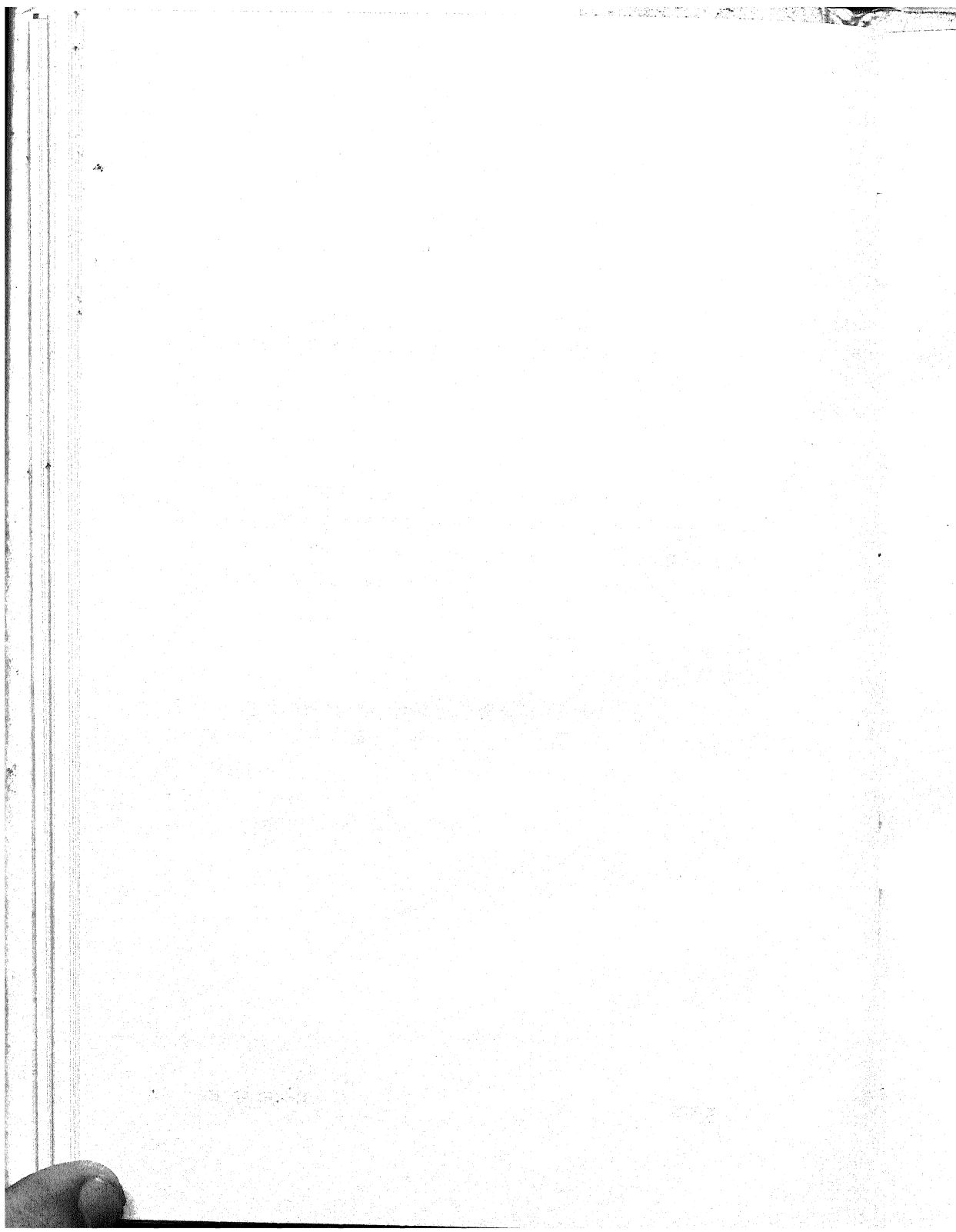
हँसना

'हँसना' सुख है। स्पिनोजा ने सुख को शुभ माना है और दुख को अशुभ। सुख के सम्बन्ध में स्पिनोजा का कहना है कि सुख मनुष्य का वह स्थिति–परिवर्तन है जिसमें वह पूर्णता की अधम स्थिति से उत्तम स्थिति को जाता है और ठीक इसी तरह दुख, मनुष्य का वह स्थिति–परिवर्तन है जिसमें वह पूर्णता की उत्तम स्थिति से अधम स्थिति को जाता हैं। इस सम्बन्ध में अपने कथन को और स्पष्ट करने के लिए टिप्पणी के रूप में स्पिनोजा ने लिखा है–– 'मैं स्थिति–परिवर्तन कहता हूँ, क्योंकि सुख स्वयं पूर्णता नहीं, क्योंकि यदि वह पूर्णता जिसे मनुष्य प्राप्त करता है, जन्मजात होती, तो उसकी प्रकृति में सुख का उद्वेग न होता, और यह बात अपने विपरीत से और भी स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि कोई मनुष्य इससे इनकार नहीं कर सकता कि दुख किसी बडी पूर्णता से छोटी पूर्णता को जाना है, स्वयं छोटी पूर्णता नहीं, क्योंकि जिस अंश में मनुष्य किसी पूर्णता में साझी है, वह इतना दुखी नहीं हो सकता, न ही हम यह कह सकते हैं कि दुख अधिक पूर्णता का लुप्त होना है, क्योंकि लोप कोई वस्तु नहीं। परन्तु शोकातुरता या दुख एक क्रिया है जो पूर्णता की अधम स्थिति की जाने की क्रिया ही हो सकती है, अर्थात् ऐसी क्रिया

जिससे किसी मनुष्य की क्रिया-शक्ति कम होती या रुकती है... हँसी, खिसियाना, चिन्ताकुलता और शोक की परिभाषाएं मैं नहीं करता, क्योंकि उनका सम्बन्ध अधिकतर शरीर से है और वे सुख या दुख के रूपभेद नहीं है।'[1] कहना यह है कि स्पिनोजा हँसी को उद्वेग के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसने उसे विशेष रूप से विचारणीय नहीं माना। इसके लिये पर्याप्त कारण भी स्पिनोजा ने दिए हैं। बात यह है कि 'हँसना' के अपने और रूपभेद हैं। हँसना, सुख है और जिस सीमा तक 'सुख' है, उस सीमा तक शुभ है और दुख है यदि वह मनुष्य की क्रिया-शक्ति को घटाता है और तदनुसार अशुभ है।

दिनमान के २३ मार्च १९७५ के अंक में 'आधुनिक जीवन' स्तंभ के अंतर्गत 'हँसने का सामान' (विनोद भारद्वाज द्वारा लिखित) टिप्पणी छपी है। इस टिप्पणी का मूल स्वर यह है कि इधर अर्थात् आधुनिक जीवन में हँसी का सामान तेजी से बदला है। इस बदलाव का कारण वातावरण के संकट का ही अधिक एहसास है ..... अब सम्मान और गरिमा के साथ जीना मुश्किल होता जा रहा है। इस संदर्भ में फ्रांसीसी-कवि-समीक्षक बोदलेयर को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि समझदार आदमी हमेशा भय और कम्पन के साथ हँसता हैं। निर्णय रूप में टिप्पणी में कहा गया है कि आदमी हँसने के प्रति उदासीन होते जा रहे है चूँकि चुपके चुपके हमारी जिंदगी में यह बात प्रतिष्ठित हो रही है कि भय और कम्पन के साथ हँसना, हँसना नहीं होता।

दिनमान की टिप्पणी का समाधान स्पिनोजा की ऊपर उद्धृत पंक्तियों में मिल सकता है। मैं स्वयं दिनमान की टिप्पणी से पूर्णतया सहमत हूँ। इसी तरह मैं स्पिनोजा की ऊपर उद्धृत पंक्तियों से भी पूर्णतया सहमत हूँ। दिनमान की टिप्पणी में वातावरण की स्थिति का एहसास समस्या के रूप में हैं जब कि स्पिनोजा ने विवेक के आधार पर उद्वेगों का (यहाँपर विशेष रूप से हँसना के संदर्भ में) बौद्धिक समाधान प्रस्तुत किया है। यह समाधान सब युगों के लिए है।

खुलकर हँसने के लिए साहस चाहिए। इस साहस में कमी आने का कारण लोकमत का भय है। हँसी का सामान उपस्थित है और हँसी आती भी है तब भी यदि हँसने से पूर्व वातावरण पर (हँसी के सामान पर) विचार करने लगें और परिणाम की कल्पना हो जाए तो हँसी पर नियंत्रण अपने आप

---

१. स्पिनोजा, नीति, (अनुवादक-डॉ. दीवानचन्द) –पृ. १५५ तथा १५६.

आ जाता है । फिर यह हँसी भय और कम्पन की हँसी होगी । हँसना, उस स्थिति में संभव है जहाँ सामाजिक मूल्य कुछ स्थिर हो गए हैं । स्थिर हो गए है अर्थात् क्रान्ति—विद्रोह—आन्दोलन—घेराव आदि की स्थिति नहीं हैं । अभिव्यक्ति उन्मुक्त है और लोकमत का भय नहीं है । बर्ट्रेण्ड रसेल ने इस सम्बन्ध में लिखा है – " लोकमत का भय किसी भी अन्य भय की भाँति उत्पीड़क होता है और उससे विकास अवरुद्ध हो जाता है । जब तक इस प्रकार का भय रहेगा तब तक किसी भी प्रकार की महत्ता की उपलब्धि कठिन होगी और तब तक वह आत्मिक स्वातंत्र्य भी प्राप्त नहीं हो सकेगा जो सच्चे सुख का स्रोत है, क्योंकि सुखी होने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि हमारी जीवनप्रणाली हमारी अपनी प्रेरणाओं से उद्भूत हो और हमारे पडोसियों या सम्बन्धियों की आकस्मिक रुचियों और इच्छाओं पर आधारित न हो । " [२] बात यह है कि हँसने के लिए एक जैसी रुचि के लोग चाहिए, इसी तरह इस बात पर पूर्णतः विश्वास हो कि जिनके बीच बैठकर हम हँस रहे हैं, वे हमारे मत से सहमत हैं । यह मानी हुई बात है कि हँसना–बोलना समान स्वभाव वाले मित्रों के बीच ही संभव ह ।

किसी विशेषज्ञ की राय लोकमत से भिन्न होती है । विवेक की दृष्टि से विचार करें तो विशेषज्ञ के मत का आदर आवश्यक है । किन्तु व्यवहार में विशेषज्ञ के मत से लोग उतना नहीं डरते, जितना लोकमत से डरते हैं । इसके लिए साहस की आवश्यकता है । इसीलिये रसेल ने कहा है कि साधारणतः लोकमत का उतना ही सम्मान करना चाहिये जितना भूख और कैद से बचने के लिए आवश्यक हो ।

हँसने का सामान, वातावरण में हैं । पुरानी भाषा में (काव्यशास्त्रकी भाषा में) कहना चाहें तो आलम्बन, वातावरण में है । इस सामग्री में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई है । सच्चाई, यह है कि समझदार आदमी यदि खोजे और यदि अभिव्यक्ति में उसे स्वतंत्रता प्राप्त हो तो यह अनुभव किया जा सकता हैं कि उपहास के पात्र अनेक हैं । आजकल हँसी व्यंग्य में वदल गई है । समाचार–पत्रों में जो कार्टून छपते हैं, वे सब हँसी के पात्र ही तो हैं । यों कहिये कि अब प्रत्यक्ष रूप से नही हँसा जाता । अप्रत्यक्ष रूप से हँसने के साधन खोजे गए हैं । व्यंग्य, एक प्रकार से बौद्धिक हास्य ही है । अब हमारी भावना नहीं हँसती,

---

२. सुख की साधना ---- बर्ट्रेण्ड रसेल (अनुवादक : ख्वाजा वदीउदजमाँ, पृ. ११५.

बुद्धि हँसती है। बहुतों को समाचार-पत्रों के कार्टून समझ में नहीं आते, इसका अर्थ यही है कि उन्हें उपहास के प्रसंग का बौद्धिक ज्ञान नहीं हुआ हैं।

हँसना के शुभ पक्ष पर विचार करें। स्पिनोजा का कहना है कि--"हँसी और रसिकता केवल सुख है, और इसलिये, यदि वे अति अधिक न हों, तो वे अपने आप में शुभ हैं." [3] स्पिनोजा की पंक्तियाँ बहुत गूढ़ होती हैं और व्याख्या की अपेक्षा रखती हैं. स्पिनोजा की हँसी शील और सदाचार की हँसी है। उपहास, मखौल, व्यंग्य आदि जो द्वेष की ओर संकेत करते हैं या तत् तत् कारणों से (प्रमुख रूप से द्वेष) उत्पन्न होते हैं, अशुभ हैं। स्पिनोजा जब हँसी को सुख मानते हुए भी उसे **केवल सुख** कहता है, तो इसका तात्पर्य यही है कि हँसना सुख मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए उसी ने लिखा हैं--"चिन्ताकुल और विनोदविहीन अंधविश्वास ही हँसी की मनाही करता है ...... एक बुद्धिमान का काम है कि वह यथासंभव पदार्थों का प्रयोग करें और उनमें आनन्द अनुभव करें (अति अधिकता की सीमा तक नहीं, क्योंकि वह आनन्द होना नहीं।) मैं कहता हूँ, एक समझदार, मनुष्य का काम है कि वह सीमित मात्रा में सुखद पदार्थ खायें पियें, और सुगन्धों, बढ़ते हुए पौधों के सौन्दर्य, पहनावा, संगीत, खेल–कूद, नाटक-गृह और अन्य ऐसे स्थानों से, जिनका मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाए बिना प्रयोग कर सकता है, आनन्द ले।' [4] सुखी होना सब का लक्ष्य है। अतः हँसना यदि सुखमात्र है--केवल सुख है, तो इसकी मनाही नहीं होनी चाहिए। यदि हम हँसने से वंचित किए जाते हैं, तो सुख से वंचित किए जाते हैं।

हँसना सुख तो है, किन्तु वह अभिव्यक्त सुख हैं। चूंकि सब सुखी होना चाहते हैं। अतः हँसमुख (प्रसन्न वदन) की वृत्ति जिस किसी में पाई जाएगी, वह अन्यों के लिए आकर्षण का पात्र होगा। राम के प्रसन्न–चित्त रहने के सम्बन्ध मे तुलसी ने लिखा है।:--

> मन मुसुकाइ भानुकुल–भानू।
> रामु सहज आनंद–निधानू।
> बोले बचन बिगत सब दूषन।
> मृदु मंजुल जनु बागबिभूषन। (अयो ५–६, दोहा संख्या ४१.)

इस प्रकार की पंक्तियाँ, तुलसी ने बहुत लिखी हैं। ऊपर जो पंक्तियाँ उद्धृत हैं, उनकी विशेषता यह है कि कैकेई के मुखसे-- "सब प्रसंग

३. स्पिनोजा, नीति,-- (अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द)– पृ. २०६।
४. ---- वही ---- पृ. २०६.

रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई।" सब कुछ सुनने के बाद भी राम के चित्त में कोई विकार नहीं आया। जो स्वयं सुखी नहीं, वह औरों को सुखी नहीं कर सकता। जो स्वयं हँस सकता है, वह औरों को हँसा सकता है। राम के हँसने में शील और सदाचार है। स्पिनोजा इसी हँसी को शुभ मानता है। राम की हँसी मर्यादित तथा भय–कम्पन से रहित सहज हँसी है।

हँसना, जैसे कि स्पिनोजा का कहना है और जिसके लिए उत्तम उदाहरण तुलसी के राम हैं, आज के युग मे कठिन है। हँसने के लिए बाह्य आलम्बन (दिनमान के शब्दो में हँसी का सामान) समाज में आज भी है और बौद्धिक विकास के इस युग (शिक्षा के प्रचार तथा प्रसार के कारण) में इस सामग्री का अधिकाधिक बोध हो भी रहा है। इस पर भी यदि हँसने की सामग्री, हँसने नहीं देती, तो इसका कारण व्यक्ति का अन्तर्मुखी होना है। हँसो, तो अकेले हँसो। लड्डू खाओ तो अकेले खाओ। जब तक वृत्ति बहिर्मुखी नहीं होगी, तब तक कैसे हँसा जा सकता है? हँसने के लिए साथी चाहिए, जो हमारी वृत्ति से सहमत हो। अकेले में हँसने के लिए (सहज हँसी के लिए) राम के समान आत्मवल चाहिए। हँसी, वस्तुतः मानसिक द्वन्द्व को शांत करने के लिए उत्तम निदान है। रोते को हँसाइए, तो बड़ा कल्याण होगा। केवल विवेक के आधार हँसा नहीं जा सकता। विवेक के साथ, आस्था की आवश्यकता है। हमारा अन्तर्मुखी जीवन यदि विवेक के साथ आस्था पा लें और बहिर्मुख होने की ओर प्रवृत्त हो तथा अपने सदृश (समस्वभाव के) साथी की खोज कर ले तथा यह संख्या बढ़ती जाए, तो आज के युग में भी हँसा जा सकता है। फिर हँसना, छूत की बीमारी है। हँसनेवाले दल के बीच रोनेवाला पहुँच जाय, तो वह भी हँस देता है। हँसनेवालों को देखकर हँसी आती है। हँसना, सुख मात्र है अतः हँसना सुखी जीवन का लक्षण है।

○ ○
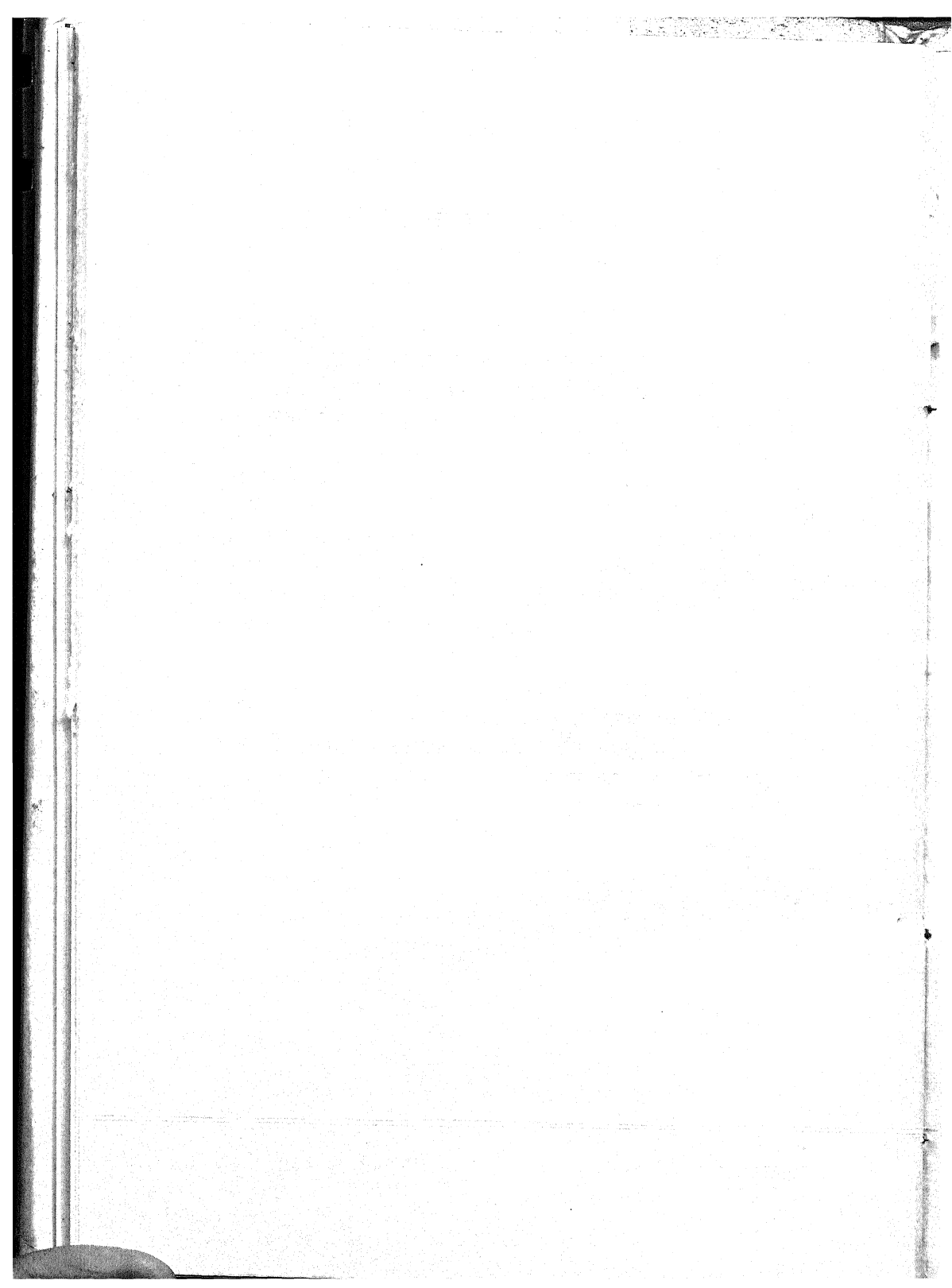
अभिरुचि

अभिरुचि युक्त जीवन आनन्दप्रद है और अभिरुचिहीन जीवन नीरस है। हमारा सुख, हमारा आनन्द, हमारी अपनी अभिरुचियों में निहित हैं। जीवन में सुख और आनन्द की खोज अभिरुचियों की खोज है। यदि हमें अपने सुख में तथा आनन्द में वृद्धि करना है और जीवन को हंसते खेलते गुजारना है तो हमें अपनी अभिरुचियों का पता लगाना चाहिए। हम सोचें कि हमारी रुचि किसमें हैं? इस दृष्टि से यदि हम अपना ही विश्लेषण करेंगे तो इससे हम अपने सुख के क्षणों को चुनने में समर्थ होंगे। यहाँ सर्वसामन्य रूप से अभिरुचि —वैयक्तिक एवं निर्वैयक्तिक—का विश्लेषण करने का प्रयस किया जा रहा है। इस विश्लेषण में ध्यान सर्वसाधारण व्यक्तियों का रहा है। यह विवेचन असाधारण व्यक्तियों के लिए नहीं है।

जगत् कर्म प्रधान है। यहाँ सब को काम करना है। निष्कर्मी कोई नहीं है। न कोई निष्कर्मी रहना चाहेगा। कर्म के क्षेत्र अलग अलग हैं। कर्म–क्षेत्रों का चुनाव व्यक्ति का अपना चुनाव है और इस चुनाव की स्वतंत्रता सब को प्राप्त है। सच्चाई यह है कि किसी से यदि यह पूछा जाय कि इस लाइन में (इस व्यवसाय में) तुम कैसे चले आए, तो उत्तर मिलेगा, बस, चले आए। यह न पूछो कि कैसे चले आए? और अब आ गए हैं तो आदत हो गई और जब आदत हो गई तो अब रस भी आ रहा है। बहुत कम लोग होंगे (इन लोगों को सौभाग्यशाली ही कहना चाहिए) जिन्होंने

स्वतंत्रता से अपनी अभिरुचि के अनुसार अपना कर्मक्षेत्र चुना और दृढ़ता के साथ उस क्षेत्र में रहकर सफलता पाई और इस तरह चुनाव के पश्चात् उन्होंने अपने कर्म को आनन्दपद अनुभव किया। चाहते कुछ थे और हो कुछ गये और जब कुछ और हो गये तो अब जीवनभर उससे छुटकारा नहीं। अब तो जीवन का सुख–दुःख उसी क्षेत्र से बंध गया है। बहुतों के जीवन में यही हुआ है। स्थिति यह है कि हम अपनी अभिरुचि को पहचानते नहीं और न इस दृष्टि से कभी विचार करते हैं कि हमारी अभिरुचि किस में है ? 'गंगा गये गंगादास और जमना गये जमनादास' वाली हमारी स्थिति है। कमजोर और व्यक्तित्वहीन प्राणी की यही स्थिति होती है। व्यक्ति बाहरी प्रलोभनों के आगे अपनी अभिरुचियों का बलिदान कर देता है। विकल्पों में फंसकर मनुष्य अपने संकल्पों की रक्षा नहीं कर सकता।

इस स्थिति से हटकर अभिरुचि के अन्य पहलुओं पर विचार करें। यह मान लें कि हमारा कर्मक्षेत्र हमारे अपने द्वारा चुना हुआ क्षेत्र नहीं, वह पारम्परिक है या परम्परा से प्राप्त हुआ है या हमारे अपने हितचिन्तकों एवं स्नेहियों के परामर्श से चुना हुआ है। इस स्थिति में भी अपनी अभिरुचियों का विश्लेषण किया जा सकता है। किसी भी मनुष्य द्वारा किये जानेवाले कर्मों का विभाजन मोटे रूप में दो भागों में किया जा सकता है। व्यवसाय सम्बन्धी कर्म या वह कर्म जिसका सम्बध पारिश्रमिक पाने से है और दूसरा वह कर्म जिसे वह अवकाश के क्षणों में करता है और इससे अपने सुख को बढ़ाने का प्रयास करता है। व्यावसायिक कर्मों को छोड़कर अब हम केवल उन कर्मों पर विचार करें जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के अवकाश के क्षणों से है।

व्यावसायिक एवं अपने मुख्य कर्मक्षेत्र में व्यक्ति प्रायः अधिक रुचि लेता है। बहुत से काम व्यक्ति को ऐसे भी करने पड़ते हैं, जिसे वह करना पसन्द नहीं करेगा। किन्तु व्यवसायिक विवशता एवं फल पर रहने वाली दृष्टि हमसे वह काम करवा लेती है। ऐसे क्षणों में अपने मुख्य काम से सम्बन्धित गौण काम नीरस होने पर भी हम उसे रुचि से कर लेते हैं। किसी कार्य की निरन्तरता व्यक्ति को उस कार्य में सक्षम बना देती है। यह सक्षमता विकसित स्थिति में यांत्रिकता में परिणत हो जाती है और यांत्रिकता के लाभ अपने स्थान पर ठीक होने पर भी इससे जीवन का सुख बढ़ता है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः अपने मुख्य काम से हटकर—यांत्रिक जीवन से मुक्त होकर—हम कुछ अन्य कर्म करना भी चाहेंगे। ऐसे कर्मों का चुनाव करने में व्यक्ति अधिक स्वतंत्र है।

ऐसे काम जिनका सम्बन्ध दायित्वों से या जिम्मेदारियों से नहीं है, व्यक्ति का आनन्द बढ़ानेवाले होंगे। इस स्थिति में कठिन काम में भी उसे थकान का अनुभव नहीं होगा। इन्हीं कामों की चर्चा नीचे विशेष रूप से की जा रही है।

अवकाश के क्षणों को आनंदप्रद बनाना और अपने जीवन में सुख तथा आनन्द की वृद्धि करना अपने को सभ्य एव सुसंस्कृत बनाना है। अभिरुचियों से व्यक्ति का चरित्र बनता है, व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है और इसी तरह संस्कृति का निर्माण होता है।

जो फल पर दृष्टि रखकर काम करते हैं, वे काम का आनन्द नहीं उठाते। व्यवसाय करते समय या ऐसे कर्मों में हमारी दृष्टि फल पर रहती है अतः फल की आशा में नीरस काम भी कर लिया जाता है किन्तु जब प्रश्न यह होगा कि फल पर दृष्टि न रखकर काम पर दृष्टि रखनी है तब व्यक्ति ऐसे कर्मों को चुनना पसन्द करेगा जिससे कर्मकाल में कर्म का आनन्द मिले। अवकाश के क्षणों में किए जानेवाले कर्मों में हमारा ध्यान कर्म पर ही रहेगा।

बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है :– यदि व्यक्ति अपने काम के अतिरिक्त और बहुत सी चीजों में रुचि लेता हो तो वह ऐसे क्षणों में अपने काम को बहुत आसानी के साथ भूले रह सकता है जब उसे भूल जाना ही उपयुक्त है। जो व्यक्ति बहुत–सी चीजों में रुचि नहीं लेता उसके लिए यह अपेक्षाकृत कठिन है। परंतु यह आवश्यक है कि इन रुचियों मे व्यक्ति को उन्हीं शक्तियों का प्रयोग न करना पडे जो दिन भर के काम के कारण क्षीण हो चुकी हों। ये रुचियाँ इस प्रकार की नहीं होनी चाहिए कि इच्छा–शक्ति का प्रयोग करने और तत्काल निर्णय करने की आवश्यकता हो। इनमें आर्थिक लाभालाभ का भी कोई प्रश्न नहीं होना चाहिए जैसा कि जुए में होता है। सिद्धांत रूप से ये इतनी उत्तेजक भी नहीं होनी चाहिए कि भावात्मक थकान पैदा कर दे और अवचेतन मन तथा सचेतन मन दोनों पर हावी हो जाएं"[1] रसेल का यह कथन उपयुक्त है। प्रश्न यह है कि यह रुचि हम में कैसे जाग्रत हो ?

अब कुछ उदाहरण देखे जाएं। मनोविनोद अथवा मनोरंजन सम्बन्धी कर्मों को इस दृष्टि से––अभिरुचि की दृष्टि से–चुनना पसंद किया जायगा। सिनेमा देखना, नाटक देखना, पुस्तकें पढ़ना, घूमना–फिरना, यात्रा करना, खेल देखना, चित्र निकालना, फोटोग्राफी, गाने सुनना, नृत्य एवं संगीत देखना तथा

---

१ सुख की साधना–बर्ट्रेण्ड रसेल–(अनुवादक : ख्वाजा बदीउज्जमाँ)-पृ १९१.

सुनना आदि विविध काम हैं। इन कामों का सम्बन्ध व्यवसाय से भी है किन्तु ये काम ऐसे भी हैं जिन्हे अवकाश के क्षणों में व्यक्ति मनोविनोद के लिए करता है। इन क्षणों में व्यक्ति तनावों से मुक्त हो सकता है। इस तरह के और भी अनेक कर्म हैं। देखना यह है कि इन कर्मों के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है ? क्या इस प्रकार के काम मन बहलाने के लिऐ ही हैं। यदि ऐसा है, तब तो सोचना पडेगा। मन तो बहलना चाहिए किन्तु कर्म करते समय कर्म का आकर्षण बना रहे, यह बहुत आवश्यक है।

जगत् अनेक रूपात्मक है। इन विविध रूपों के प्रति सहज जिज्ञासा हमारे मन में जाग्रत होनी चाहिए और इस जिज्ञासा के कारण हमें जिज्ञासाओं का समाधान खोजने के लिए हमें इन अनेक रूपों में रुचि लेनी चाहिए। जो चीज व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है, ऐसी चीजों में रुचि लेना सीखना चाहिए। यदि हम अपने विषय से हटकर अन्य विषय की चर्चा करते हैं और रुचि से करते हैं, तो इससे हमारे सुख में वृद्धि होती है। यदि हम विषय तथा वस्तु को बदलना नहीं चाहते तो हमारी अभिरुचियाँ बंध जाएँगी और हमारा सुख उन्हीं विषयों और उन्हीं वस्तुओं में सीमित हो जाएगा। ऐसा कौन चाहेगा ? इस दृष्टि से एक मनोरंजक प्रसंग दिया जा रहा है। शॉपेनहॉवर प्रायः अंग्रेजों के जलपान–गृह में भोजन करता था। वह भोजन के आरम्भ में अपने सामने मेज पर एक सोने का सिक्का रख दिया करता था और भोजन समाप्त हो जाने पर सिक्का वापस अपनी जेब में डाल लेता था। आखिर एक नौकर ने चिढ़ कर उसकी हर रोज की इस आदत का कारण पूछ ही लिया। शॉपेनहॉवर ने उत्तर में कहा कि यह उसकी मौन बाजी थी कि यदि यहाँ भोजन करनेवाले अंग्रेज अधिकारी किसी दिन घोडों, औरतों और कुत्तों के अतिरिक्त किसी और विषय पर चर्चा करेंगे तो वह उस दिन उस सिक्के को निर्धन कोश में डाल देगा।[1] इस प्रसंग से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शॉपेनहॉवर ने यह पता लगा लिया कि अंग्रेजों की (उस होटल में आनेवाले अंग्रेजों की) अभिरुचियाँ सीमित हैं। अबकाश के क्षणों मे चाय-पान के समय में इन्हीं विषयों पर बातचीत होती रहती हैं। इसी दृष्टि से हमें स्वयं सोचना हैं कि हमारी अपनी अभिरुचियों की सीमाएँ क्या हैं ? अभिरुचियों के क्षेत्र सीमित हो जाने पर सुख भी सीमित हो जायगा और यह अनेक रूपात्मक जगत् हमें आकृष्ट नहीं करेगा।

---

१. शॉपेनहॉवर का उक्त प्रसंग 'दर्शन की कहानी' – विलडूरेंट की पुस्तक से लिया गया है–पृ. २०५. (अनुवादक : कैलाशनारायण चौधरी).

प्रायः हमारी अभिरुचियाँ सामयिक प्रभावों एवं समूह की मनोवृत्तियों के आधार पर परिचालित होती हैं। अभिरुचि दिखलाना भी एक फैशन हो गया है। अपने को समुन्नत और सुसंस्कृत रूप में प्रदर्शित करने की कामना से लोग अभिरुचियों को पालने लगे हैं। प्रदर्शनियाँ देखने जाते अवश्य हैं किन्तु वहाँ आनेवाली जनता के चेहरे अधिक देखते हैं और प्रदर्शनी में रखी हुई वस्तुओं को कम देखते हैं। कुछ लोग तो साफ कह देते हैं कि 'हम यहीं बाहर बैठे हुए हैं। आप देख आइए।' प्रश्न है कि फिर आए क्यों? तो यही उत्तर है कि समूह का साथ देना है। जब सब देखने जा रहे हैं तो हमें भी जाना है। इस स्थिति को बदलने के लिए हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये। हमें स्थानों में, व्यक्तियों में, वस्तुओं तथा पदार्थों में वास्तविक अभिरुचि जाग्रत करनी चाहिए यदि किसी क्षेत्र का हमसे सम्बन्ध नहीं और हमें वह विषय समझ में नहीं आता तो कम से कम उन क्षेत्रों और विषयों के प्रति हमारे मन में जिज्ञासा तथा कौतुहल का भाव जागे। हम ऐसे व्यक्तियों को खोजें और खोजने पर उनसे सम्पर्क स्थापित कर उन क्षेत्रों और उन वस्तुओं का ज्ञान अर्जित कर सकें। इस प्रकार के प्रयास निश्चित ही हमारे व्यक्तित्व को सबल बनानेवाले होंगे और इससे हम जीवन की गरिमा से परिचित हो सकेंगे।

अभिरुचि का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व से है। किसी के व्यक्तित्व से यदि हम परिचित होना चाहते हैं या किसी व्यक्ति की हम ठीक पहचान करना चाहते हैं तो हमें यह पता लगाना चाहिए कि उसकी अभिरुचि के क्षेत्र क्या हैं? खाने में वह किन पदार्थों को पसन्द करेगा? खेल कौनसा खेलना चाहेगा? कपडे किस रंग के पहनना चाहता है? पुस्तकें किन विषयों की पढ़ता है?। कविता में रुचि है या नाटकों में? राजनीति में रुचि है या दर्शनशास्त्र में? आदि आदि। अभिरुचियाँ एक ओर जहाँ व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं, वहाँ दूसरी ओर संस्कृतियों के मानदण्ड स्थापित करती हैं। जैसे हम व्यक्ति–व्यक्ति की अभिरुचियों के अन्तर को देखते है। वैसेही हम स्थान भेद या भौगोलिक भेदों के आधार पर भी अभिरुचियो में अन्तर का अनुभव करते हैं। महाराष्ट्र और पंजाब, इसी तरह बंगाल और केरल इन सब स्थानों की अभिरुचियों में अन्तर है। खान–पान के पदार्थों में अन्तर है, पहनावों में अन्तर है; विचारधारा में अन्तर है; भाषाओं में अन्तर है। इन अन्तरों के आधार पर ही सब को अपना अपना व्यक्तित्व प्राप्त है। यह तो प्रान्तों की बात हुई। नगर–नगर की संस्कृतियों का अन्तर वहाँ की अभिरुचियों के आधार पर जाना जा सकता है। हम सब चाहते हैं कि इन सब में एकता स्थापित हो। इस एकता के लिए मंच की आवश्यकता है।

एक मंच पर आने पर हमें एक दूसरे की अभिरुचियों का आदर करना होगा। समान अभिरुचियों से संबंध रखनेवाले लोग निकट आते हैं। जिस पदार्थ का सेवन मैं अभिरुचि के साथ करता हूँ, उसी पदार्थ का सेवन यदि सामनेवाला भी रुचि के साथ करता है तो दोनों निकट आ जाएंगें। दोनों रस लेकर खाएंगें। हम चाहते हैं कि हमारी अभिरुचियों का प्रसार हो। हमारी अभिरुचियों में जितनों का सहयोग प्राप्त होगा उतना हमारा सुख बढेगा। आप किसी को खुशी से खिलाएँ और खानेवाला खुशी से खा न सके, यह दुख की बात होगी। ऐसा सब जगह संभव नहीं। जो बात खाने-पीने के लिए कही जा रही है, वही बात अन्य प्रकार की अभिरुचियों के लिए भी लागू है। हम देखते हैं कि बहुत से लोग चाय पीते नहीं किन्तु दूसरों को पिलाते हैं। इसी तरह बहुत से लोग सिगरेट पीते नहीं किन्तु उनके टेबल पर एश-ट्रे रखी रहती है। खान-पान में जहाँ हम औरों की अभिरुचियों का ध्यान रखते हैं और इनका सम्मान करते हैं, उसी तरह अन्य पद्धतियों एवं विचारधाराओं में भी सम्मान करते हैं। यह सम्मान की भावना ही हमको एक दूसरे के निकट ला सकती है और इसी तरह संस्कृतियों का संगम हो सकता है।

अभिरुचियाँ कलाओं को जन्म देती हैं। कला का मोल नहीं बतलाया जा सकता उसी तरह अभिरुचियों का मोल भी क्या बतलाएँ? हमारे दैनिक कर्मों को कलात्मक रूप देनेवाली और इन कलात्मक रूपों से उस कर्म के आनंद को विकसित करनेवाली हमारी अपनी अभिरुचियाँ ही हैं।

अभिरुचियाँ अमीरों की होती हैं, अभिरुचियाँ गरीबों की होती हैं, अभिरुचियाँ पुरुषों की होती हैं, अभिरुचियाँ स्त्रियों की होती हैं, बालकों और वृद्धों की होती हैं, युवा-युवतियों की होती हैं। यह कहना कि अभिरुचियों पर किसी का एकाधिकार है, गलत है। अभिरुचियाँ होना अच्छा है क्योंकि इन्हीं में हमारा सुख छिपा हुआ है, इन्हीं के माध्यम से हम जीवन का रस लेते हैं और हँसते-खेलते जीवन की एकतानता से छुटकारा पाते हैं। हमारा अध्य-वसाय, हमारा परिश्रम तथा हमारा व्यावसायिक कर्म इन अभिरुचियों को पूर्ण करने के लिए है, इन अभिरुचियों में हमारे स्वप्न हैं, हमारी अभिलाषाएं हैं और भविष्य है। आवश्यकता इत बात की है कि हम अपनी अभिरुचियों की तलाश करें। जिनकी अभिरुचियाँ बन गई उन्होंने सुख के साधनों की खोज कर ली। और जिनकी अभिरुचियाँ नहीं बनी वे अभी सुख की खोज कर रहे हैं।

○ ○

परिवर्तन

संसार कितना परिवर्तनशील है। कल क्या था, आज क्या हो गया ? और न जाने कल क्या होनेवाला है। सचमुच, इसको कोई नहीं जानता और न जानने का प्रयत्न ही कर सकता है। नित एक नया पर्दा आँखों के सामने आता है और हट जाता है। कल के पर्दे का रंग कुछ और था, आज का कुछ और है। रंगों में परिवर्तन होते रहते हैं। मनुष्य इस परिवर्तन को नित के जीवन में समझ नहीं पाता। एक बालक को हम सदा अपनी आँखों से देखते आते हैं। हमें कोई परिवर्तन मालूम नहीं होता। दस वर्ष के बाद भी वह बालक उसी प्रकार लगता है। एक मनुष्य यदि उसी बालक को दस वर्ष समय व्यतीत होने पर, एकाएक देखें, तो वह उसमें परिवर्तन अनुभव करता है। वह उस बालक के शरीर में, बुद्धि में, कार्य में, विचार में, यहाँ तक कि हर बात में परिवर्तन देखता है और सहसा कह उठता है– 'यह कितना बदल गया है।' पर हम इसको कुछ नहीं समझते, उल्टा हाँ कह कर उस प्रश्न को वहीं समाप्त कर देते हैं। मनुष्य अपने परिवर्तन को समझ नहीं सकता परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन अवश्य होता रहता है; संसार की हर [illegible]में तथा हर प्राणी में। परिवर्तन संसार का अटल नियम है, जो हर कि[illegible]है। इस नियम का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।

परिवर्तन जब संसार का अटल नियम है तो भला मैं इस नियम से कैसे बच सकता हूँ। आज मैं जब स्वयं पर विचार करता हूँ और सोचने लगता हूँ, तो मुझे अचरज होता है कि मैं बहुत बदल गया हूँ। यदि मैं इस प्रकार सम-- झने लगूं, तो मुझे हँसी भी आती है कि अरे, मैं यह क्या सोच रहा; क्या मैं पागल तो नहीं हुआ ? पर फिर भी विचार आ ही जाते हैं और सहसा मैं अपने आप से यह कह उठता हूँ कि सचमुच मैं बहुत बदल गया हूँ। जब मुझे अपने कामों से फुरसत मिल जाती है और चुप बैठता हूँ, तो यह मन चुप नहीं बैठने देता। कई प्रकार के विचार हृदय में उठते हैं और विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि बादलों के रंग पल-पल में परिवर्तित होते हैं, बस वही स्थिति मन की भावनाओं की होती है। थोड़े ही समय में भावनाओं की नदी सी उमड़ आती है और मैं कुछ समय के लिए भावनाओं की नदी में डूब जाता हूँ पर मस्तिष्क अपने बुद्धि के बल से डूबने नहीं देता और मुझे उस नदी में तैरना सिखा देता है। मैं तैरते तैरते किसी एक भावना पर विचार करने लगता हूँ, वास्तविकता क्या है ? बस सोचते सोचते फिर भावनाओ की एक बड़ी लहर ऐसे जोरों से आती है कि बुद्धि अपनी शक्ति खो देती है और मुझे कुछ समय के लिए, फिर भावनाओं की उस नदी में डूब जाना पड़ता है। कभी-कभी मैं नदी की तह तक पहुँच कर यह प्रयत्न करना चाहता हूँ कि तह में मुझे कुछ मोती मिल जाए, जिससे मुझे कुछ लाभ हो सकता है और मेरा नदी में डूबना भी व्यर्थ नहीं जाए। परन्तु होता कुछ उलटा ही है। न मोती मिलते हैं और न ही सीपी। वरन् तह में ऐसा फंस जाता हूँ कि निकलना कठिन हो जाता हैं। जब मेंरा हृदय भावनाओं की नदी में इस प्रकार फंस जाता है, तो बुद्धि मुझे फिर उससे छुड़ाने का प्रयत्न करती है, मस्तिष्क पर जोर देकर बुद्धि मुझे फिर से छुटकारा दिलाती है। मैं कुछ ऊपर उठता हूँ और जब बाहर कुछ सांस ले पाता हूँ तो फिर वही बात सामने आती है कि वास्तविकता क्या है ? घूम फिर कर मुझे यही उत्तर मिलता है कि वास्तविकता परिवर्तन ही है। परिवर्तन ही संसार का संचालन करता है। संसार का हित परिवर्तन में है। हाँ। तो अपने विषय में मैं कुछ कह रहा था कि मुझमें बहुत परिवर्तन हो गया है।

एक समय था, जब मेंरा जीवन आज के जीवन से सारी बातों में भिन्न था। वे दिन कितने सुनहरे थे। उन दिनों की याद से ही मेरा हृदय गद्गद् हो उठता है। वह स्मृति आज मेरे जीवन का सहारा बन गई हैं। उन स्मृतियों के द्वारा कभी कभी मैं अपने दुःखी मन का समाधान करता हूँ। बीते दिनों की स्मृतियाँ मुझे उत्साहित करती हैं। इन स्मृतियों के प्रकाश में मैं अपने भविष्य

का भवन खड़ा करना चाहता हूँ। जब कभी मैं इन स्मृतियों की दुनियाँ में घूमता हूँ, तो मुझे उस समय आत्मानन्द का अनुभव होता है, मैं स्वयं को भूल कुछ समय के लिए एक नये संसार में विचरने लगता हूँ पर ... ... पर ज्यों ही वर्तमान की घण्टी कानों में बजती है, यह सारी स्मृतियाँ पल में कहाँ चली जाती हैं, इसका पता नहीं चलता। वर्तमान मेंरी ओर आँखें फाड़ कर देखने लगता है और कहता है कि ... "उठ अपना काम कर, बीती पर विचार करना व्यर्थ है।" वर्तमान की इस पुकार से मैं कुछ भौंचक्का सा हो जाता हूँ और सोचने लगता हूँ कि वास्तविकता क्या है ? तो, फिर यही उत्तर आता है कि यह सब समय का परिवर्तन है।

दुनियाँ गोल है। हम जिस स्थान से निकलते हैं, घूम फिर कर उसी स्थान पर आते हैं। उसी प्रकार चारों ओर से यही उत्तर मिल रहा है कि संसार में सिवा परिवर्तन के कुछ नहीं। पदार्थ में, प्राणी में, व्यक्ति में, समाज में, राजनीति में, प्रकृति में, हर किसी में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का नाम ही जीवन है। उस जीवन को हम जीवन नहीं कह सकेंगे, जिस जीवन में परिवर्तन न हो। परिवर्तन से ही सब कुछ होता है। परिवर्तन ही मनुष्य को सुख तथा दुःख की अनुभूति कराता है। यदि मनुष्य सदा दुःखी रहे तो उसे सुख अथवा दुःख की कोई अनुभूति नहीं होती पर ज्योंही परिवर्तन उससे सुख छीन दुःख उसकी झोली में डालता है, तो उसे पता चलता है कि सुख क्या है ? उसी प्रकार दुःख का परिवर्तन सुख में हो सकता है। अब इस समय जहाँ धूप है, कुछ देर बाद छाया उस स्थान को अपना लेती है। धूप—छांव यह संसार का नियम बन गया है. आज जो उन्नति के शिखर पर है, यह आवश्यक नहीं कि वह सदा उसी स्थान पर रहेगा, उसका पतन हो सकता है। आज जिसका पतन हो गया है, उसका पुनरुत्थान हो सकता है। यह सब सोच जाता हूँ पर फिर भी बुद्धि मुझे कभी कभी पागल बना देती है किन्तु मैं घूम फिर कर अपने स्थान को अवश्य आ जाता हूँ। कहावत है ... "दिन भर का भूला भटका शाम को यदि घर आजाए, तो वह भूला भटका नहीं कहलाता।' उसी प्रकार मैं भी इधर उधर भटक कर उसी स्थान को आ गया हूँ कि संसार परिवर्तनशील है। इसीलिए कालिदास ने कहा है...... 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।' (उत्तरमेघ छं. सं. ४६.)

○ ○

भक्ति

इधर भक्ति-भावना में ह्रास हुआ है। चाहो तो इसे आस्था का संकट कह लो या संस्कृति का विघटन कहो, बात एक ही है। ऐसा क्यों हो रहा ह ? हमारी पीढी इस समय अपने पूर्वजों के प्रति सशंक हो गई है। इस तरह सशंक होने के कारण क्या हो सकते हैं ? सामाजिक मूल्यों में अस्थिरता आ गई है। सम्बन्ध-भावना में प्रेम-विश्वास-श्रद्धा-भक्ति का स्थान अब आशंका-भय-विरोध-आतंक आदि ले रहे हैं। देश में अराजकता के अनेक उदाहरण देखने मिल रहे हैं। इन सब को देखते हुए लगता है कि कहीं-कुछ ऐसा हो गया है, जिस पर विचार करने की आवश्यकता है। इस स्थिति में भक्ति-भावना पर नए सिरे से विचार किया जा सकता है। आधुनिक संदर्भ में, भक्ति के प्रति अपनाई गई स्थिति का विश्लेषण नीचे किया जा रहा है।

भक्ति सम्बन्ध-भावना है; जो प्रेम तथा श्रद्धा पर आधारित है; सम्बन्ध-भावना होने के नाते, यह सामाजिक भावना है, फिर यह समाज के शुभ तथा कल्याण की भावना है। भक्ति को धर्म की रसात्मक अनुभूति कहते हैं। भक्ति का सम्बन्ध यदि धर्म से जोड़ा जाता है, तो उसका एक आधार यह है कि एक ही प्रकार की विचारधारा और तदनुसार आचरण में विश्वास करने की भावना, जिसका सम्बन्ध समाज से है। यह बात निश्चित है कि भक्ति

मंगलमय अनुभूति हैं और यह मंगल समाज का मंगल है। तुलसी के शब्दों में –'मंगल भवन, अमंगल हारी' यही भावना है।

प्रश्न है, भक्ति के आलम्बन का। हम किसको मानें? किस पर विश्वास करें? भक्ति–भावना में ह्रास होने का तात्पर्य आदर्शों का ढ़हना है। अतीत के प्रति आस्था में कमी हुई है। क्या वास्तव में अतीत अब हमारे लिए आकर्षण का विषय नहीं रहा? क्या हम अतीत से कटकर जी सकते हैं? इसी तरह के और अनेक प्रश्न हैं। इन सब प्रश्नों पर आधुनिक संदर्भ में विचार करें तो लगता है, हम प्रयोजनवादी होते जा रहे हैं। हम अतीत को उसी सीमा तक स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, जहाँ तक अतीत से हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है और फिर प्रयोजनवादी नवीनता का प्रेमी है। वह इतिहास की भूलों से लाभ उठाना चाहता है। वह इतिहास पढ़ता भी है, तो इसलिए कि उससे वह मुक्त कैसे हो सकता है? विलियम जेम्स के इस प्रयोजनवाद ने अमेरिका के चिन्तन को प्रभावित किया है। भारतवर्ष की कम-से-कम अभी वह स्थिति नहीं है। इस पर भी इधर स्वतंत्र विचारधारा रखनेवाले बौद्धिक समाज में आस्था के संकट का जो निर्माण हुआ है, वह प्रयोजनवादी होता जा रहा है। यह प्रयोजनवाद भक्ति–भावना के विरोध में है।

प्रयोजनवाद का चरम लक्ष्य, समकालीन स्थिति में, ज्ञानविज्ञान की उपलब्धियों का अधिकाधिक उपयोग और तदनुसार योजनाबद्ध नव निर्माण की ओर अग्रसर रहना। इस तरह मनुष्य तथा समाज सब को सुखी बनाना है। मनुष्य के सारे व्यवहार, इस आधार पर निश्चित होते हैं। इन व्यवहारों में स्थिरता नहीं है। इस प्रकार के चिन्तन ने क्रिया और व्यवहार पर अधिक बल दिया है। विलियम जेम्स (१८४२ ई.– १९१० ई.) की पुस्तक 'प्रयोजनवाद' (Pragmatism) इस दृष्टि से उत्तम पुस्तक है। वस्तुतः मैं किसी वाद को लेकर यहाँ चर्चा करना नहीं चाह रहा हूँ। मुझे कहना यह है कि विलियम जेम्स ने प्रयोजनवाद पुस्तक में जिस प्रकार की स्थिति का वर्णन किया है, वह वर्णन तथा वह स्थिति ऐसी है, जिस में अतीत का विरोध है। अतीत को स्वीकार किया गया है, तो प्रयोजन रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार का चिन्तन क्रिया तथा व्यवहार पर बल देता है, और नगद लाभ चाहता है।

भक्ति–भावना (चाहे किसी आदर्श के प्रति हो, मूल्यों के प्रति हो, निर्गुण के प्रति हो या सगुण के; राम के प्रति हो या और किसी के) जिस किसी के प्रति होगी, वह आस्था से युक्त होगी। फिर यह संबंध भावना प्रयोजनवादी नहीं है। भक्ति–भावना में प्रयोजनवाद रहे,

तो फिर वह भक्ति-भावना नहीं है। भक्ति को सामाजिक मूल्यों के रूप में स्वीकार करें, तो इस प्रकार के मूल्य एक पीढी के प्रति दूसरी पीढी के सम्बन्ध सुहृद रूप में होगें। अतीत की घरोहर के प्रति आस्था की भावना होगी और यह भावना ही हमारे सांस्कृतिक बल का आधार होगी। जिन देशों का इतिहास पुराना है या बहुत प्राचीन है, उनकी सांस्कृतिक भावना गहरी है। किसी भी प्रकार की विचारधारा जब तक जनजीवन में व्याव-हारिक घरातल पर (आचरण रूप में) विश्वास रूप में परिणत नहीं हो जाती तब तक संस्कृति का निर्माण संभव नहीं है। यह संस्कृति हमें अपने पूर्वजों से घरोहर रूप में प्राप्त होती है। यह घरोहर एक पीढी द्वारा दूसरी पीढी को प्राप्त होते रहती है। इतिहास में यह प्रक्रिया जारी है। जब यह कहा जाता है कि आस्था के संकट का हम सामना कर रहे हैं या भक्ति–भावना का ऱ्हास हो रहा है, तो इसका तात्पर्य हम परम्परा से विमुख हो रहे हैं। वर्तमान तक सीमित रहना चाहते हैं और अपने को इतिहास की शृंखला से जोड़ना नहीं चाहते हैं।

व्यावहारिक रूप में इस तथ्य को परखना चाहें तो दो पीढियों के अन्तराल को परखा जाय। इतिहास हमारा पीछा नही छोड़ता। वह हमारे साथ है और उसे स्वीकार करना चाहिए। हम इतिहास भूलना चाहते हैं, यह चाहना, जबरदस्ती चाहना है। ऐसा चाहने से हम समाज से कट जाते हैं और तदनुसार परम्परा से विमुख होते हैं। इतिहास में परिवर्तन होता है। परिवर्तन टलता नहीं है किन्तु जो हुआ है उससे सम्बद्ध होकर उसे स्वीकार करने में लाभ है। हम इतिहास से निरपेक्ष होकर नहीं जी सकते। जब जब भी इतिहास से निरपेक्ष होकर जीने का प्रयास किया जायगा तब तब समाज में आस्था के संकट का निर्माण होगा। आत्महत्या वे लोग करते हैं, जो समाज से असंतुष्ट हैं और अपने आप में समाज से इतने कट जाते है कि उन्हें एकमात्र रास्ता यही दिखलाई देता है कि अपना अस्तित्व समाप्त कर दें। व्यक्ति की आत्महत्या व्यक्ति तक सीमित होने पर भी इसका एक बड़ा कारण चरम अनास्था तो है ही, यदि यह स्थिति समूह में निर्मित हो, अर्थात् समाज अतीत के समाज से कटकर जीने लगे, अतीत की घरोहर को स्वीकार न करना चाहे तो उसे भी इसी प्रकार के संकट का सामना करना पड़ सकता है। मैं मूलतः जो बात कहना चाह रहा हूँ, वह यह है कि आस्था के संकट का कारण या भक्ति–भावना में ऱ्हास का कारण, इतिहास से कटकर जीना है। इतिहास से हम जितना कटकर जीने का प्रयास करेंगे, उतना ही हम इस संकट (अनास्था के संकट) से ग्रस्त होंगे।

इतिहास से सम्बद्ध होकर जीने में पूर्वजों की धरोहर सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त होती हैं। यह विरासत जीवन के विश्वास का आधार है। इस स्थिति को संभालना भक्ति-भावना है। कहते हैं--'औरों ने बोया था, हम ने खाया, हम बोयेंगे तो और खायेंगे।' ठीक इसी अर्थ में हम लोग पूर्वजों के स्नेह और आशीर्वाद (उनकी मंगल-कामना) से जी रहे हैं। यह स्नेह और अशीर्वाद आनेवाली पीढी को हस्तांतरित करना है। परिवार में यह भावना पाई जाती है। यही भावना एक पीढी और दूसरी पीढी के सम्बधों में भी देखी जा सकती है। यह इतिहास-चक्र है। क्रम चलता रहता है। हम सब उस क्रम के अंग हैं। यह भावना हममें आ जाए तो हम लोग आस्थावान हो सकते हैं। ऐतिहासिक चेतना मनुष्य की भावना को विस्तार का रूप देती है। इस आधार पर हम में आस्था जागती है। जब इतिहास की परम्परा में हम अपने आप को सम्बद्ध कर देते हैं, तो हमारा संकट चाहे वह कितना ही महान् हो, तुच्छ हो जाता है। परम्परा से हमें बल मिलता है और हम हँसते हँसते संकट को सह लेते हैं। भक्ति, वस्तुतः समझें तो जीवनी-शक्ति है। इसी नाते इसे धर्म की (चाहे वह कोई भी हो) रसात्मक अनुभूति कहा गया है।

आधुनिक संदर्भ में, विचार करें, तो विचार महत्त्वपूर्ण है। स्वतंत्र-विचारधारा को अपनाना बुरा नहीं है। प्रश्न यही है कि जिस किसी विचार-धारा को अपनाया जाय, उस विचारधारा के प्रति आस्था रखी जाय। विचारों के प्रति आस्था का भाव हममें उदित होगा, तो हम औरों के विचारों के प्रति सहिष्णु हो सकेंगे। स्वतंत्र विचारधारा अपनाने के लिये स्पिनोजा का आत्मबल चाहिये। स्वतंत्र विचारधारा को अपनाने का तात्पर्य यह नहीं कि इतिहास से और तदनुसार समाज से कटकर जीने लगें। स्पिनोजा (१६३२ ई. १६७७ ई.) को २४ वर्ष की अवस्था में यहूदी समाज से बहिष्कृत कर दिया गया था। कारण यह था कि उसने स्वतंत्र विचारधारा अपनाई थी। उसको बिरादरी से निकालने के लिये एक समारोह हुआ था और उसमें यह निर्णय किया गया था कि कोई यहूदी उसके साथ बात न करे, न कोई पत्र-व्यवहार करे, कोई भी उसको किसी प्रकार से सहायता न दे। उसके साथ एक मकान में न रहे। इसके बाद भी २० वर्ष तक स्पिनोजा जीवित रहा। समाज ने उसको काट दिया। कटकर भी वह अपने आत्मबल से जीवित रहा। उसे अपने विचारों पर पूर्ण आस्था थी। अपनी जीविका के लिए वह ताल (रैन्ज) रगड़ने का काम (हाथ का उद्योग) करता था। बाकी सारा समय उसने ज्ञान-ध्यान में व्यतीत किया। उसने जो पुस्तकें लिखीं है, उनमें 'नीति'

सब से महत्त्वपूर्ण है। स्पिनोजा ने कई विचारकों को आत्मबल दिया है। इस शताब्दी के महान् चिंतक बर्ट्रेंड रसेल ने उसके ऋण को स्वीकार किया है। रसेल के कथन में अनास्था की भावना नहीं है। उसका संदेश आस्था से युक्त है। रसेल ने लिखा है :–

> "मैं कोशिश करता कि युवकों को अतीत का स्पष्ट ज्ञान हो और वे यह महसूस करें कि मनुष्य का भविष्य उसके अतीत की अपेक्षा संभवतः कहीं अधिक चिरकालिक होगा। मैं चाहता कि जिस ग्रह में हम लोग रहते हैं उसकी क्षुद्रता का उन्हें बोध हो और इस तथ्य का उन्हें ज्ञान हो कि इस ग्रहपर मानव जीवन केवल अस्थायी है। और इन तथ्यों के साथ ही –– जिन से व्यक्ति की महत्त्वहीनता प्रकट होती है –– मैं उन्हें ऐसी बातें भी बताना चाहता हूँ जिनसे व्यक्ति की महत्ता का बोध हो सकता। मैं उन्हें बताता कि सारे अंतरिक्ष में कोई भी वस्तु उतनी मूल्यबान नहीं है जितना कि मनुष्य। स्पिनोजा मानव बंधन और मानव स्वच्छंदता के विषय में बहुत पहले लिख चुका है। उसकी शैली और भाषा के कारण दर्शन के विद्यार्थियों को छोड़कर दूसरे लोगों के लिए उसके विचारों को समझना बहुत कठिन हो जाता है किंतु जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह मूलतः स्पिनोजा के विचारों से बहुत भिन्न नहीं है।"[१]

रसेल ने अतीत से कटने की बात नहीं कही है। अतीत से संबद्ध होकर जीने पर हमें आत्मबल मिल सकता है। हम कहाँ है, इस बात का हमें ज्ञान होगा और तदनुसार हम अपने भविष्य के प्रति आस्थावान हो सकते हैं। भविष्य के लिए आस्था हमें अतीत से ही मिल सकती है और उस आस्था को वर्तमान में बनाए रखना भक्ति–भावना है।

○ ○

---

१. सुख की साधना, बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक : ख्वाजा बदीउज्जमाँ, पृ. १९५ तथा १९६.
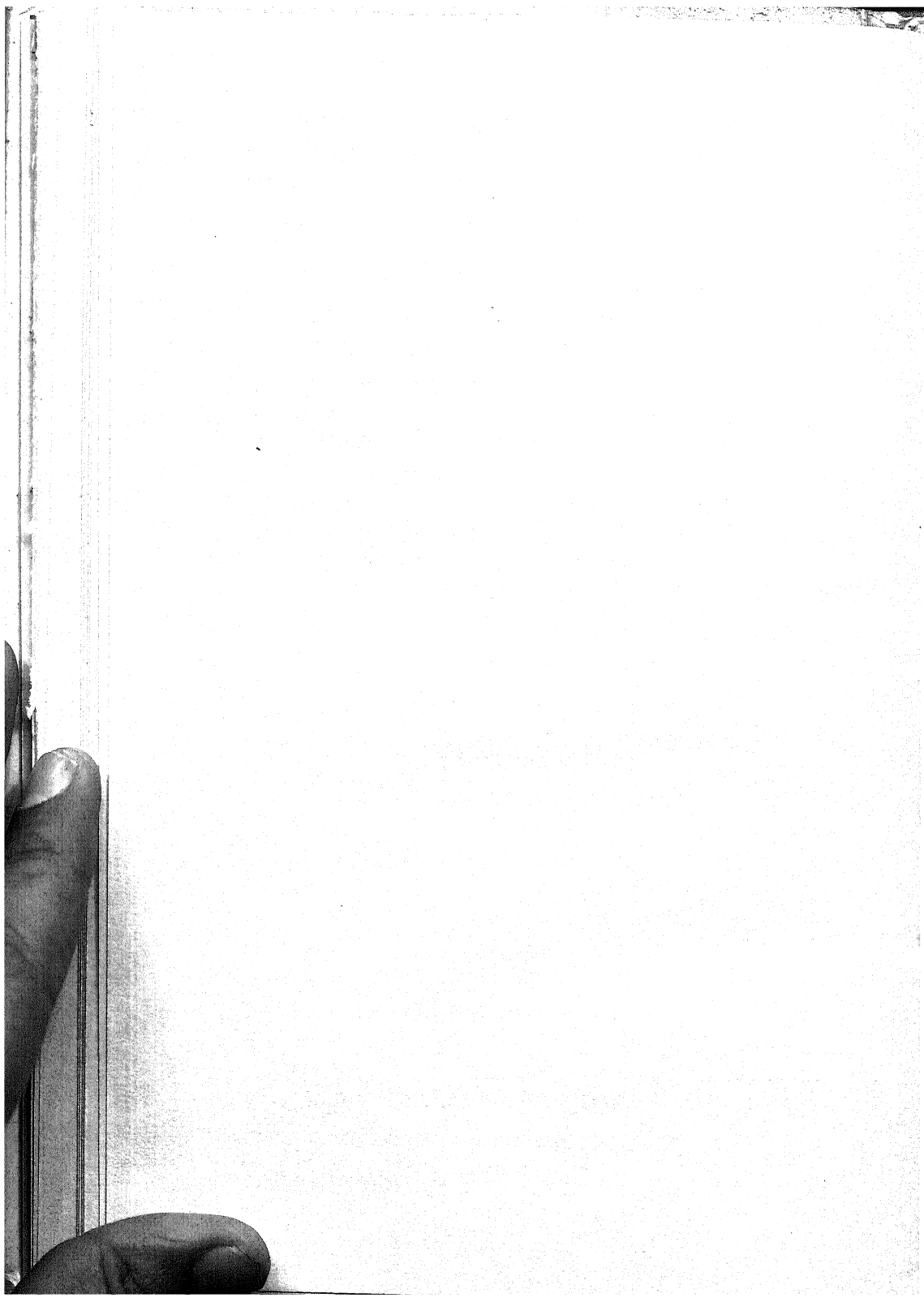
शील

शील का सम्बन्ध मनुष्य के चरित्र से है। मनुष्य में यदि कोई भाव इस तरह प्रकृतिस्थ हो जाए कि समय समय पर अवसर पाकर वह भाव मनुष्य के चरित्र का परिचायक हो तो फिर वह भाव शील–दशा को पहुँचा हुआ माना जाएगा। रसिकता, वीरता, खिन्नता, उग्रता आदि शील के उदाहरण हैं। शील का अर्थ प्रायः सुशील से ही लिया जाता है। वह शीलवान है, जब हम कहते हैं तो इसका तात्पर्य वह अच्छे चरित्रवाला है, यही लिया जाता हैं। वैसे शील के साथ 'सु' तथा 'दुः' उपसर्ग लगाकर सुशील तथा दुःशील दोनों प्रकार से भेद किया जाता है। इस पर भी शील अपने आपमें सद्‌गुणों का द्योतक है।

शील का सम्बन्ध हमारे संस्कारों से है। भावनाओं के साथ कर्म को आबद्ध करना अर्थात भावों को व्यावहारिक रूप द्वारा आचरण में परिवर्तित करना संस्कार है। मनुष्य संस्कारो के द्वारा संस्कारित होता है। वह माता–पिता तथा समाज के उस वर्ग से जिसके बीच वह रहता आया है, उनसे नित संस्कारित होता रहता है और इस आधार पर ही उसका शील बनता है। हमारे शील को बनानेवाले हमसे बडे लोग हैं। वे हमको जिस प्रकार की आदत डालते है, हम उसी प्रकार से बनते हैं। आदत ही बाद में फिर अभ्यास के

आधार पर आवेगों को नियंत्रित रखने में सहायक होती हैं। इसी तरह कोई भाव प्रकृतिस्थ हो जाता है और फिर वह शील दशा को पहुँचता है।

शील में किसी भाव की स्थायी-दशा होती है। भावों को स्थायी दशा देने के लिए संयम की आवश्यकता है। चंचल-वृत्ति का व्यक्ति शीलवान नहीं होगा। अतः जो संचारी भाव है, उन पर संयम द्वारा विजय प्राप्त करनेवाला होगा और भाव को विवेक–सम्पन्न रूप, व्यवहार में सहज रूप में (मानव प्रकृति के लक्षणों के अनुरूप) दे सकेगा, वही शीलवान होगा। गोस्वामी तुलसीदास के राम शीलवान हैं। विश्व साहित्य में ऐसा उदाहरण दुर्लभ है। रामचरितमानस को धर्मग्रंथ के रूप में जो मान्यता प्राप्त हुई है, उसका एक बहुत बडा कारण राम का शील है। विनयपत्रिका में तुलसी ने लिखा है––

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ।
सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम बिधु–बदन रिसौहै सपनेहु लख्यो न काउ।

पद बड़ा है और प्रसंग को विस्तार नहीं देना है। इस पद में राम के शील का विशद रूप में वर्णन है। इस पद पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बहुत मुग्ध हैं। श्रीराम मनुष्य भी हैं या भगवान भी हैं, यहाँ 'भी' मनुष्य के साथ जोडें या भगवान के साथ जोडें, यह प्रश्न है। हम इस उलझन में न पड़ते हुए, राम को मनुष्य रूप में ही देखें। और इस रूप में देखने पर शील का चरम उत्कर्ष, राम में दिखलाई देगा।

शील में चरित्र-बल होता है। राम के शील में शक्ति भी है। दृढ़ और शीलवान चरित्र मनुष्य समाज के लिये आदर्श होते हैं। मनुष्य मूलतः आध्या–त्मिक प्राणी है। इस अध्यात्म को प्रकाश में लाना मनुष्य के चरित्र को पह-चानना है। और अध्यात्म क्या है ? प्रत्येक वस्तु का जो मूलभाव (स्वभाव) या उसका अपना भाव होता है, वही अध्यात्म होता है। इस सम्बन्ध में गीता में लिखा है :–– 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' (तीसरा श्लोक, आठवां अध्याय) श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का स्वतः का अपना जो मूल भाव होता है, वह अध्यात्म है। मैं इस समय दर्शन में उलझना नहीं चाहता। यह अलग विषय है। संक्षेप में कहना यह है कि शील-दशा अध्यात्म की (मनुष्य के सहज-चरित्र की) स्थिति से भिन्न नहीं है। शील की अभिव्यक्ति में आत्मप्रकाश व्यक्त होता है।

आधुनिक काल में मनुष्य में चरित्र की दृढ़ता नहीं दिखलाई देती। लगता है मनुष्य के चरित्र का पतन हो रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य का स्वभाव (अध्यात्म) स्थिर नहीं रह गया है। भाव अब स्थायी दशा में नहीं, संचारी दशाओं में हैं। संचारी भावों के आधार पर चरित्र की पहचान होती नहीं है। चरित्र के सम्बन्ध में हेगेल के मत को उद्धृत करते हुए डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने लिखा है :—

> "हेगेल का मत है कि जिस प्रकार प्राचीन कथा के अवलम्बन से कला का आत्मप्रकाश सिद्ध हो सकता है, उसी प्रकार वर्तमान युग की कथाओं से नहीं हो सकता। प्राचीन युग में चरित्रों में जिस प्रकार की स्वतंत्रता पाई जाती है, आधुनिक युग के मनुष्य में वैसी नहीं पाई जाती। वर्तमान युग के समस्त चरित्र समाज, रीति–नीति, नियम–कानून के द्वारा इस प्रकार जकड़े हुए हैं, कि उनके माध्यम से चिद्विलास की रक्षा करना कठिन है .. कला में मनुष्य का चरित्र व्यक्त करते समय उस मनुष्य की सर्वसाधारण आध्यात्मिक दशा का प्रकाशित होना आवश्यक है। आध्यात्मिकता को जितना ही रूप के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है, उतनी ही कला सार्थक होती है। आध्यात्मिक शब्द से इस स्थान पर मनुष्य के अन्तर का समस्त भाव अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् प्रेम, वात्सल्य, वीरत्व, उत्साह तथा क्रोध आदि को ग्रहण करना चाहिए" [१]

ये पंक्तियाँ कला और सौंदर्य के प्रसंग में लिखी गई हैं। इन पंक्तियों में विशेष महत्त्वपूर्ण बात चिद्विलास की है। हमारे चित् का जो धर्म हैं, वह सहज विलसित हों और अपने स्व–भाव को व्यक्त करे तो आत्मप्रकाश होता है। इस स्थिति को चिदानन्द की स्थिति कह सकते हैं। संक्षेप में मनुष्य के अध्यात्म की अभिव्यक्ति उसके शील से होती है। सरल शब्दों में कहें तो शील अध्यात्म का कर्म तथा आचरण में अभिव्यक्त रूप है।

शील मनुष्य को परम्परा से प्राप्त होता है। शील के पतन का कारण परम्परा के प्रति अनास्था का भाव है। शील के कारण पूज्य बुद्धि का भाव मन में उदित होता है। किसी के शील पर मुग्ध होना, आस्था के भाव को बढ़ाना है। इसीलिए, चरित्रों का अध्ययन, महापुरुषों की जीवनियों का अध्ययन,

---

१. सौंदर्य–तत्त्व, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, अनुवादक : डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ. २७१ तथा २७२।

शील की पहचान में सहायक होतें हैं। 'सियाराममय सब जग जानी' में मूल बात अध्यात्म की है। इस अध्यात्म की पहचान हो तो फिर मानव में आस्था का भाव जागेगा। हम चाहते हैं कि जिस आधार पर सारी मानव जाति एक है, उस आधार का स्वरूप हमें ज्ञात हो। रामचरितमानस में राम के शील पर सभी मुग्ध हैं। दशरथ, कौसल्या, भरत, लक्ष्मण, वशिष्ठ, वाल्मीकि एवं निषाद, ही नहीं अपितु वे सब जो राम के सम्पर्क में आते हैं, राम के शील से प्रभावित हैं। शीलवान पुरुष का दर्शन मात्र आनन्ददायी होता है। रास्ते के पथिक तक राम का दर्शन लाभ कर अपने को धन्य अनुभव करते हैं।

जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सिय समेत दोउ भाइ।
भव मगु अगमु अनंदु तेई बिनु श्रम रहे सिराइ। १२३. अयो.

रामचरितमानस की यदि मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से व्याख्या की जाएगी, तो उसमें राम के शील को सर्वप्रथम जगह मिलेगी। बात यह है कि शील में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्त्वपूर्ण माना गया है। राम ऐसे व्यक्ति हैं, जिसको समाज चाहता है और यह भावना, मार्क्सवाद के निकट हैं। राम तो अपने व्यक्तिगत सुख को समाज के लिए त्यागते हैं। 'नर तनु धरेहु संत सुर काजा' राम का प्रयोजन (अवतार का कारण) समाजवादी है। अस्तु।

आधुनिक संदर्भ में यदि शील पर विचार करें तो मनोविज्ञान ने इस दिशा में बहुत कार्य किया है। मनोविज्ञान ने मानव प्रकृति को सहज प्रवृत्तियों के रूप में पहचाना है और साथ ही सामाजिक पद्धतियों और तदनुसार नव-निर्मित संस्थाओं की सामूहिक प्रवृत्तियों को भी पहचाना हैं। इन दोनों में सन्तुलन हो तो हम विमर्शात्मक नैतिकता की ओर अग्रसर हो सकते हैं। यह प्रक्रिया जारी है। परिवर्तन की गति इस समय इतनी तेज है कि मानव प्रकृति की सहजात प्रवृत्तियाँ सामूहिक (संस्थाओं और संगठनों के कारण) प्रवृत्तियों के साथ चलने में कठिनाई का अनुभव कर रही हैं। यह कठिनाई पहले नहीं थी, ऐसी बात नहीं किन्तु वर्तमान समय में यह गति बहुत तेज है। इससे आदतों को स्थिर रखना कठिन हो गया है। जॉन ड्यूई ने मानव चरित्र पर इस दृष्टि से विचार किया है। जान ड्यूई ने लिखा है :—

"चरित्रमात्र मानव-प्रकृति के तथा स्वाभाविक एवं सामाजिक परिवेश के तत्त्वों की अन्तःक्रिया रूप है। इस बात को समझ लेने पर हम देखेंगे कि उन्नति दो मार्गों से होती है और यह कि स्वतंत्रता की उपलब्धि उस प्रकार की अन्तःक्रिया में होती है, जो उस परिवेश को

बनाए रखती ह जिसमें मानव की अभिलाषा और उसके चुनाव का भी कुछ महत्त्व है। सच तो यह है कि शक्तियाँ मानव के भीतर भी हैं और उसके बाहर भी। आन्तरिक शक्तियाँ बाह्य शक्तियों की अपेक्षा दुर्बल अवश्य हैं, परन्तु उन्हें भविष्य-दर्शन कर लेने एवं पूर्व योजना बना लेनेवाली मनीषा का सहारा मिल सकता है। जब हम इस समस्या को विचक्षणता से उपलब्ध किए जानेवाले अनुकूलन की समस्या मान लेते हैं तो विवाद का विषय व्यक्तित्व के आन्तरिक भाग से हटकर एक व्यवस्थापन के विषय पर, शिक्षा एवं सामाजिक पथप्रदर्शन की कलाओं की स्थापना पर आ जाता है।" [२]

हम देखते हैं कि आन्तरिक शक्ति, बाह्य-शक्ति से दुर्बल है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कमजोर हुआ है। इस कमजोरी के कारण ही चरित्र का पतन हो रहा है। सामूहिक प्रवृत्तियों की पहचान के अभाव में व्यक्ति की निजी प्रवृत्तियाँ बल (अस्वीकृति के कारण) प्राप्त नहीं कर सकती। इन बदलती स्थितियों में व्यक्ति यदि अपने चरित्र-बल पर जीता है, तो उसे अपने निजी मूल्यों की प्राप्ति के लिए (चिद्विलास को बनाए रखने के लिए) बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है। महात्मा गांधी की हत्या का एक कारण यह भी है। गान्धीजी ने जीवनभर व्यक्ति-मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए समूह की प्रवृत्तियों को नये संदर्भो में पहचानने का सतत प्रयास किया। और अन्तत: बलि हो गए। गान्धीचरितमानस अभी नये तुलसी की प्रतीक्षा में है। संक्षेप में कहना यह है कि शील आज व्यक्ति से त्याग चाहता है। और यह त्याग समूह की प्रवृत्तियों के अनुकूल हो तो व्यक्ति का मूल्य होता है।

आज यदि हम संस्कारों की बात करें, तो इन संस्कारो का रूप नित बदल रहा है। बच्चों की शिक्षा में माता-पिता का हाथ अब नगण्य है। बच्चों को संस्कार संस्थाओं से मिलते हैं। संक्षेप में संस्कारों में स्थिरता और एकरूपता नहीं है। इसमें दोष बालकों का नहीं है। ऐसी स्थिति में बालक को जहाँ से भी आस्था मिलती है, वहीं से वह अपने को ढालता है और तदनुरूप अपने भावों को आचरण में व्यक्त करता है। संस्कारों की अस्थिरता चरित्र को अस्थिर बनाती है। कोई भाव टिकने नहीं पाए और चरित्र का अंग न बने तो इसका एक बड़ा कारण बदलता परिवेश है।

---

२. मानव-प्रकृति और आचरण, जान ड्यूई-अनुवादक : हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पृ. ७

यह सब हैं। वस्तुस्थिति से इनकार नहीं कर सकते। फिर भी इतिहास हमारे साथ है। शील की प्राप्ति अतीत के साथ नाता जोड़ने से ही हो सकती है। अतीत से नाता जोड़ने में आस्था का भाव वर्तमान रहता है। हम यह अनुभव करते हैं कि हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए बहुत कुछ किया है। जो अतीत से कटते हैं, उनके लिए अनास्था का जीवन है। भविष्य में क्या होगा, इसकी पहचान अतीत के आधार पर ही संभव हैं। इतिहास से हमें दिव्य-दृष्टि मिलती है और हम परम्परा का बल ग्रहण करते है। यह ठीक हैं कि आज चरित्र के पतन में या बदलते चरित्र में दोष व्यक्ति को नहीं दिया जाता, दोष परिवेश को तथा इतिहास को दिया जाता है। इस पर भी इतिहास हमारे साथ है। यह इतिहास ही हमारे संस्कारों के दायित्व को वहन करता है। इतिहास यथार्थ होता है और इसे हम झूठ नहीं कह सकते। अतीत में जो चरित्र शीलवान रहे हैं, उन्होंने मानव जाति के स्वप्न को यथार्थ में बदला है। उनसे संबद्ध होकर ही हम अपने को शीलवान बना सकते हैं। इन बदलती परिस्थितियों में भी मनुष्य का शील ही मनुष्य को आत्मबल प्रदान करता है। तुलसी के राम आज भी अनेकों में शील का संचार करते हैं। राम से राम का नाम बड़ा हैं, इस कथन में मार्मिक बात यह है कि नाम के साथ राम का शील ही तो हमें आकृष्ट करता है। 'राम एक तापस तिय तारी, नाम कोटि खल कुमति सुधारी।' संक्षेप में परम्परा से अपने को सम्बद्ध करने से ही शील को सुरक्षित रखा जा सकता है।

मैक्सिम गोर्की ने 'व्यक्तित्त्व का विघटन' निबंध लिखा है। इस निबंध में गोर्की ने वस्तुतः व्यक्ति के शील तथा चरित्र के विघटन के कारण दिये हैं। गोर्की जनसाधारण की शक्ति में विश्वास रखते हैं। आध्यात्मिक शक्तियों का स्रोत भी वे जनसाधारण को मानते हैं। गोर्की ने सामूहिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में व्यक्ति के खण्डित होने की मार्मिक कथा इस निबंध में इतिहास और साहित्य के आधार पर लिखी है। गोर्की अपने को इतिहास से संबद्ध करते हैं। अतीत पर उनकी गहरी आस्था है। प्राचीन काल के चरित्र–नायक 'हम' अधिक थे और 'मैं' कम। समूह की भावना पहले जितनी थी, उसमें कमी आने के कारण व्यक्तित्त्व का विघटन हुआ है। इसीसे शील का भी पतन हुआ है। इस संबंध में गोर्की की कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं :—

> 'समष्टि कभी अमरत्व की खोज नहीं करती, क्योंकि उसे अमरत्व तो प्राप्त है ही। लेकिन जब व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों पर

शील·

अपना प्रभुत्त्व स्थापित करता है तो वह अपने अंदर अस्तित्व को चिरंतन बनाने की प्यास अनिवार्यतः जगा लेता है।'[३]

● ● ●

'समष्टि के टुकडे—टुकडे होते गये और वह व्यक्ति को उत्तरोत्तर कम तादाद में अपनी शक्ति प्रदान करती गई। मनोवैज्ञानिक एकता विच्छिन्न होती गई और व्यक्ति पहले से अधिक धुँधला प्राणी बनता गया। उसे एक ओर तो कबीले के विरोध के सामने अपनी सत्ता की रक्षा करनी होती थी, दूसरी ओर अपने पद सम्मान, अपनी संपत्ति, अपनी पत्नियाँ और अपनी संतान की चौकसी करनी पडती थी। व्यक्ति के आत्म—संपूर्ण अस्तित्व—की समस्या दिनों दिन संश्लिष्ट होती चली गई, जिसके लिये बहुत बडे प्रयत्न की जरूरत थी। अपने 'मैं' की स्वतंत्रता के संघर्ष में व्यक्ति का समष्टि से पूरी तरह संबंध-विच्छेद हो गया और उसे अपने अंदर एक ऐसा भयावह शून्य मिला, जिसने उसकी शक्तियों को शीघ्र कुंठित कर दिया। व्यक्ति और समाज के बीच एक अराजक संघर्ष का सूत्रपात हुआ... विश्व का इतिहास हमारे सामने ऐसी ही तस्वीर पेश करता है... ऐसा संघर्ष जो आज के खंडित और कुंठित व्यक्तियों की शक्ति से बाहर की चीज़ है।'[४]

● ● ●

"हर देश के श्रेष्ठतम कवि जनसाधारण की समष्टिगत सर्जना की इन कृतियों से लगातार प्रेरणा लेते रहे हैं—कला का यह एक ऐसा अजस्र स्रोत है जिसने प्राचीन काल के समस्त काव्यमय सामान्यीकरण अर्थात् सभी प्रसिद्ध बिम्ब और प्रतिनिधि चरित्र दिए हैं"[५]

संक्षेप में गोर्की समूह से व्यक्ति की ओर बढते हैं और व्यक्तिवाद के कारण समाजवाद का ह्रास हुआ है, ऐसा मानते हैं। प्राचीन काल के

---

३. व्यक्तित्त्व का विघटन, मैक्सिम गोर्की, अनुवादक : शिवदानसिंह चौहान तथा श्रीमती विजय चौहान, पृ. १६.

४. व्यक्तित्व का विघटन, मैक्सिम गोर्की, अनुवादक : श्री शिवदानसिंह चौहान तथा श्रीमती विजय चौहान, पृ. १८ तथा १९।

५. — वही— पृ. २०।

चरित्र सामूहिक वृत्तियों का बिम्ब प्रस्तुत करते हैं। हमारे यहाँ रामायण तथा महाभारत में जो चरित्र पाए जाते हैं, वे चरित्र सामूहिक वृत्तियों को ही अधिक व्यक्त करते हैं। शील, सच देखा जाय तो व्यक्तिबाद की भूमिका पर स्थित नहीं हैं। व्यक्ति स्वयं समूह से जितना कटता है, उतना ही उसके शील का ह्रास होता है। राम इसीलिए शीलवान थे कि उनको समूह चाहता है। जनसाधारण की शक्ति उनमें संचित है। जब तक व्यक्ति जनसाधारण के बीच की आध्यात्मिक शक्ति को व्यक्ति–जीवन का प्रेरणा स्रोत नहीं मानता तब तक शील का उत्थान नहीं हो सकता।

○ ○

आश्चर्य

आश्चर्य की वृत्ति स्थायी वृत्ति नहीं है। इस पर भी यह वृत्ति लोक में तथा लोक से बाह्य रूपों में असाधारण स्थिति या गुण का अनुभव होने के बाद, देखी जा सकती है। बाह्य जगत का कोई भी रूप, व्यक्ति या वस्तु में जो पाया जाता है, यदि साक्षात्कार के समय अपने असाधारण स्थिति या गुणों से प्रभावित करे, तो उस समय आश्चर्य का अनुभव होता है। आज भी आश्चर्य के अनेक आलम्बन हैं और स्वयं ईश्वर सब से अधिक आश्चर्य का विषय ह।

आश्चर्य की वृत्ति का समाधान प्रस्तुत करने के लिए ही ज्ञान तथा विज्ञान का सृजन हुआ है। इस दिशा में विज्ञान ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। इस उन्नति से सब परिचित हैं। इस सम्बन्ध में विशेष अवलोकनीय तथ्य यह है कि अपरिचित क्षेत्र को परिचित बनाने के लिए अर्थात् मानव ज्ञान की सीमा में उस क्षेत्र को लाने के लिए जिन दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, उन्होंनें ज्ञान के प्रकाश की उपलब्धि से पूर्व जिज्ञासा तथा कौतुहल के रूप में आश्चर्य का सुखद अनुभव किया है। इस अनुभव को उन्होंने अपने में सजग रखा अर्थात् आश्चर्य को स्थायी वृत्ति के रूप में अपने में स्थित रखा और तदनुसार उस समय तक लगातार प्रयास

जारी रखा जब तक कि आश्चर्य का विषय, ज्ञात विषय में न बदल जाय। इस वृत्ति के अभाव में कोई महान् कार्य नहीं हो सकता।

आश्चर्य की वृत्ति को स्थायी वृत्ति इसलिए नहीं कहा गया कि जिन कारणों या रूपों से आश्चर्य का अनुभव होता है, यदि ज्ञात हो जाते हैं, तो फिर वे आश्चर्य का विषय नहीं रह जाते। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'हास और आश्चर्य जिनकी स्थायी दशाएँ इतनी व्यक्त नहीं है कि उनके अलग नाम रखे जाएँ...... जिस व्यक्ति या वस्तु की लोकोत्तर असाधारणता से हमें आश्यर्य हुआ उसके सम्बन्ध में कभी कभी आश्चर्य की प्रणाली स्थापित हो जाती है और हमारे हृदय की ऐसी स्थायी स्थिति हो जाती है कि हम उसे जब कभी देखते हैं या उसका जब कभी ध्यान करते हैं तब लोकोत्तर महत्ता के आरोप के साथ। यहाँ तक कि हृदय की ऐसी स्थायी स्थिति में किसी प्रकार की बाधा हमें असह्य होगी और जो कोई उस व्यक्ति या वस्तु को साधारण कहेगा उससे हम लड़ खडे होंगे। महात्माओं के सम्बन्ध में जो अलौकिक कथाओं का ढेर लग जाता है, वह मनुष्य की इसी स्थायी मानसिक प्रसाद से।'[१] इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आश्चर्य की वृत्ति हृदय में यदि स्थित हो जाती है, तब उस वृत्ति में लोकोत्तर आरोप होता है। इस प्रकार के आरोप में विश्वास कार्य करता रहता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो आश्चर्य की वृत्ति स्थायी नहीं रह सकती। बात यह है कि आश्चर्यपूर्ण स्थिति या रूपों का उद्‌घाटन विज्ञान करता आया है। जब वह स्थिति या रूप अज्ञात के विषय नहीं रह जाते तो फिर आश्चर्य की वृत्ति नहीं रह जाती। आश्चर्य को ज्ञात-विषय बनाने में सृजन का आनन्द आता है। इसमें मनुष्य की प्रतिभा कार्य करती है।

आश्चर्य के आलम्बनों से मनोविनोद होता है। इस प्रकार के आलम्बन जादुई भी होते हैं। आश्चर्य का यह रूप ऐसा है, जिसमें चमत्कृत करने-वाले कारणों की ओर ध्यान नहीं जाता, अपितु कार्य का आनन्द (मनो-विनोद के रूप में) लिया जाता है। जादूगर छद्म वैज्ञानिक होते हैं और ये लोग भ्रान्तिमूलक स्थिति में आवेगों को उभारते हैं। इस आधार पर यदि आश्चर्य को स्थायी रूप दिया जाय, तो फिर आश्चर्य के आलम्बन, विशेष-विशेष असाधारण गुणों के शक्ति के द्योतक हो जाते हैं। यह शक्ति फिर जिस प्रकार की भावना तथा विश्वास को जन्म देती है, उससे आज भी समाज

१. रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १७९ तथा १८०.

का बहुत बड़ा भाग आक्रान्त है। विज्ञान ने इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं से मुक्त करने में हमारी बहुत सहायता की है।

आश्चर्य का आलम्बन मनोविनोद तक सीमित रहे, तो इस प्रकार के आलम्बन सुखवादी आलम्बन होंगे। इस प्रकार के आलम्बन मनुष्य को तनाव से--जीवन की एकरसता से--मुक्ति दिलाने में सहायक होते हैं। इसके विपरीत जादू में शक्ति का प्रभाव व्याप्त रहता है। जादू, वह जो सिर पर चढ़ कर बोले। जादू में आश्चर्य की स्थायी वृत्ति शक्ति रूप में परिणत हो जाती है। इस संबंध मे कालिंगवुड ने लिखा है– 'मनोविनोद जुटानेवाले के रूप में कलाकार का उद्देश्य यह हो जाता है कि वह कुछ निश्चित भावों को उभार कर अपने श्रोताओं को प्रसन्न करें और उन्हें बहाने की एक ऐसी स्थिति प्रदान करें जिसमें इन भावों का हानिरहित प्रभाव हों सकें। मनोविनोद कर लेने का अनुभव किसी ऐसी वस्तु के लिए नहीं चाहा जाता जिसका यह साधन है, अपितु स्वयं अपने लिए। अतः जहाँ जादू उपयोगितावादी है, मनोविनोद उपयोगितावादी नहीं है अपितु सुखवादी है।'[२] सार बात यह है कि आश्चर्य के आलम्बन यदि मनोविनोद मात्र तक सीमित रहते हैं, तो इससे जो सुख मिलता है, वह सुख ही उसकी उपयोगिता रह जाती है।

सरकसों में जो कुछ देखा जाता है, वह आश्चर्य की वृत्ति का वह रूप है, जिससे मनोविनोद होता है। यह मनोविनोद शुद्ध मनोविनोद होता है। जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद यदि जीवन की एकरसता तथा तनाव से मुक्ति पाने के लिये मनोविनोद को (शुद्ध मनोविनोद को) सीमित मात्रा में अपनाया जाय तो इससे सुख मिलता है। यदि सीमा का अतिक्रमण हो और जीवन की साधारण आवश्यकताओं की उपेक्षा कर, इस वृत्ति को जीवन के चरम सुखवाद के रूप में अपना लिया जाय तो फिर समाज के लिये, यह एक गंभीर समस्या हो जाती है। फिर यह मनोविनोद नैतिक-रोग हो जाता है। आधुनिक जगत् में वैज्ञानिक उपकरणों के कारण अनेक मनोविनोद के साधन उपलब्ध हो गए हैं। साधारण से साधारण व्यक्ति की पहुँच में अब ये साधन उपलब्ध हो रहे हैं। इसमें भी विशेष अवलोकनीय तथ्य यह है कि एकरसता से मुक्ति पाने के लिये एक ही प्रकार के साधन से मनोविनोद नहीं होता। प्रथम बार सरकस देखने में जितना मनोविनोद होगा, वह दूसरी बार देखने में नहीं हो सकता। जो इस प्रकार के साधनों की नित्य खोज में रहेंगे और कुछ नवीन चाहते रहेंगे, तो उनके लिये यह समस्या एक

---

२. कला के सिद्धान्त, कालिंगवुड, अनुवादक : डॉ. ब्रजभूषण पालीवाल, पृ. ७०.

नवीन नैतिक–समस्या होगी । इस प्रकार का मनोविनोद खतरनाक साबित हो सकता है । इस संबंध में कालिंगवुड ने लिखा है– 'मनोविनोद उस समय एक खतरा बन जाता है जब इसके द्वारा शक्ति के इन भण्डारों पर डाला गया ऋण इतना भारी हो जाय कि रहने के साधारण ढंग से इसका भुगतान न हो सके। जब यह संकट के बिंदु तक पहुँच जाता है तो व्यावहारिक जीवन या वास्तविक जीवन भावात्मक रूप से ही दिवालिया हो जाता है, ऐसी स्थिति जिसका वर्णन हम इसकी असहनीय नीरसता बतलाकर या इसे भारी परिश्रम कहकर करते हैं । एक नैतिक रोग प्रारंभ हो जाता है जिसके लक्षण हैं मनोविनोद के लिये निरंतर लालसा और साधारण जीवन के मामलों, जीविका के आवश्यक कार्य और सामाजिक ढर्रे के काम में रुचि लेने की असमर्थता।'[3] अतः समाज में इस प्रकार के बढ़ते हुये रोग को दूर करने की आवश्यकता है । इस आधार पर जिस तरह की संस्कृति का निर्माण होता है, वह सतही संस्कृति है । इस संस्कृति में गहराई नहीं है ।

आश्चर्य के आलम्बन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना हितकर है। इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने पर भी मनोविनोद होता है किन्तु यह मनोविनोद अतिरिक्त लाभ है, वस्तुतः इस प्रकार के दृष्टिकोण के कारण सुखद आश्चर्य का अनुभव तब होता है, जब आश्चर्य का आलम्बन अज्ञात से ज्ञात स्थिति में आ जाता है। यह ज्ञान का शुद्ध आनन्द है। इस आधार पर जीवन की सुख–सुविधाओं में वृद्धि होती है। जो कोई आश्चर्य की वृत्ति को ज्ञान की खोज के रूप में अपनाएगा, उसमें प्रयोग करनें की वृत्ति आयेगी। प्रयोग में मनुष्य की प्राक्–कल्पना कार्य करती रहती है। यह प्राक्–कल्पना आश्चर्यजनक कारणों के प्रति शुद्ध–बुद्धि (कांट जिसे शुद्ध–बुद्धि कहता है) के सहारे व्युत्पन्न होती है। प्राक्–कल्पना विकल्पों के रूप में प्रयोग करती है। प्रयोग, में हमारी जिज्ञासा वृत्ति जाग्रत रहती है और आश्चर्य–वृत्ति का सुखद अनुभव इससे मिलता है ।

आश्चर्य का सबसे महत्त्वपूर्ण आलम्बन ईश्वर है। धर्मशास्त्र तथा दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में प्राक्–कल्पनाओं के सहारे बहुत सा साहित्य रचा है। इस सम्बन्ध में निदान रूप मे कुछ मान लेना वैज्ञानिकों के लिए आज भी कठिन है। इस पर भी इस वृत्ति को जाग्रत रखने का यह ऐसा विषय है, जिसमें मनुष्य की प्रतिभा तथा बुद्धि ने अपूर्व काम किया

३. कला के सिद्धान्त, कालिंगवुड, अनुवादक : डॉ. ब्रजभूषण पालीवाल, पृ. ८५.

है और आज भी चिन्तकों के लिए यह आश्चर्य का विषय है। इस विषय को भावरूप में अनुभव करनेवाले रहस्यवादी हुए हैं। रहस्यवाद एक प्रकार से ईश्वर का भावरूप में अद्वैतवादी चिन्तन है। संसार में ईश्वर को छोड़कर भी अनेक विषय ऐसे हैं, जो हमारे आश्चर्य के कारण हैं। वैज्ञानिक इसीलिए ईश्वर में उलझना नहीं चाहते। जो एक बार इस विषय में उलझ जाएगा वह यदि अपनी जिज्ञासा वृत्ति को जाग्रत रखे तो आश्चर्य का सुखद अनुभव स्थायी–भाव के रूप में करता रहेगा। रहस्यवादी कवियों का स्थायी भाव यही सुखद आश्चर्य है।

○ ○

क्षमा

मानव–धर्म क्षमा के आधार पर स्थित है। बात यह है कि क्षमा के कारण मानवीय वृतियों का परिष्कार होता है। यही नहीं, इस वृत्तिके कारण मानवीय सम्बन्ध सहज तथा सुदृढ़ होते हैं। इसके कारण मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है और सब से बढ़कर अनेक प्रकार के अवरोधों से छुटकारा मिलता है।

मानव देवता नहीं है। वह मानव है। मानव होने के नाते मानवीय वृत्तियां उसमें पाई जाती हैं। इन वृत्तियों के आधार पर मानव जीवन की दिशाओंका निर्धारण होता है। इन्हीं वृत्तियो के कारण सुख-दुःख की व्याख्या होती है। पाप पुण्य की पहचान होती है तथा नैतिक अनैतिक समस्याओं पर विचार किया जा सकता है। ये वृत्तियाँ उद्‌वेगों से परिचालित होती रहती हैं। मनुष्य का मन उद्वेगों से आक्रान्त रहता है। प्रश्न यह है कि इन उद्वेगों से मनुष्य स्वयं पराजित हो या इन उद्वेगों पर वह शासन करना सीखे? उद्वेग निश्चित ही बलवान होते हैं और मानव मन इन उद्वेगों का दास हो जाता है। ये उद्वेग यदि बुद्धि से शासित हो तो समस्या का निदान खोजा जा सकता है। इस संदर्भ में यदि मानव धर्म के रूप में क्षमा की वृत्ति का विश्लेषण करें तो इससे मानवीय उद्वेगों को सहज और लचीला बनाए रखने में सहायता मिलती है।

स्पिनोजा ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ नीति में उद्वेगों पर विस्तार से विचार किया है। उद्वेग का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए स्पिनोजा ने लिखा है –' उद्वेग से मेरा अभिप्राय शरीर के ऐसे रूपभेदों से है जिनसे शरीर की क्रियाशक्ति बढ़ती या घटती सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ ही इन रूप-भेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत है।'[1] स्पिनोजा यह मानता है कि मन और शरीर एक ही वस्तु है जिसका विस्तार कभी चिन्तन के गुण के तले और कभी विस्तार के गुण तले होता है। इस सम्बन्ध में स्पिनोजा लिखता है– 'मन चिन्तन के लिय प्रवृत्त न हो, तो शरीर अकर्मक रहता है और कि यह मन के ही वश में है कि मनुष्य बोले या चुप रहे, और अनेक अन्य क्रियाएँ हैं, जो केवल मन के संकल्प पर निर्भर हैं। .... जब शरीर क्रियाविहीन होता है, तो मन में भी चिन्तन की प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि जब शरीर सोया हो तो उस समय मन अचेत रहता है और चिन्तन की वह शक्ति खो बैठता है, जो जागरण में उसे होती है। ··· मन में अपने विषय को विचारने की क्षमता एक-जैसी नहीं होती परन्तु जितनी अधिक शरीर की क्षमता होती है कि किसी विशेष पदार्थ का प्रति-बिम्ब उसमें अधिक उकसाहट पैदा कर सके, उतना ही अधिक मन उस पदार्थ की ओर अधिक ध्यान देने की ओर प्रवृत्त होता है ...'[2] संक्षेप में यों कह सकते हैं कि उद्वेगों से मनुष्य का मन आक्रान्त रहता है और तदनुसार शरीर भी प्रभावित होता है। उद्वेगों को वशीभूत करने के लिए उद्वेगों को पहचानना आवश्यक है। इस पहचान में क्षमा सहायक होती है।

क्षमा एकपक्षीय वृत्ति नहीं हैं। इसमें दो पक्ष होते हैं। क्षमा मांगने-वाला तथा दूसरा क्षमा करनेवाला। दोनों ही पक्षों में वृत्तियों की विवृत्ति होती है। महात्मा गांधी ने बचपन में चोरी की। भाई के हाथ में सोने का ठोस कड़ा था। उसमें से तोलाभर सोना काट लेना कठिन नहीं था। कडे से सोना काटकर कर्ज चुकाया गया। किन्तु इस अपराध की भावना को अधिक देर सहना गांधीजी के लिए कठिन था। अंततः गांधीजी ने पत्र लिखकर दोष स्वीकार कर लेने का निश्चय किया। स्वयं पिताजी के पास पहुँचे और पत्र प्रस्तुत कर दिया। पत्र में विस्तार के साथ दोष का वर्णन था तथा अपराध के लिए दंड मांगा गया था। आत्मकथा में लिखी गई गांधीजी की इस प्रसंग की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं – 'उन्होंने (गांधीजी के पिताजी ने) पत्र

---

१ – स्पिनोजा : नीति, अनुवादक – डॉ. दीवानचंन्द, पृ. १०६।

२– स्पिनोजा : नीति, अनुवादक – डॉ. दीवानचन्द, पृ. १०९

पढा। आँखों से मोतीकी बूंदे टपकी। पत्र भीग गया। उन्होंने क्षणभर आँखें मूंद ली, पत्र फाड़ डाला और खुद पढ़ने को बैठे हुए थे सो पुनः लेट गए। मैं भी रोया। पिताजीकी पीड़ा का मैं अनुभव कर सका। मैं चित्रकार होता तो आज भी उस दृश्य की पूरी तस्वीर खींच सकता था। आज भी इस तरह वह मेंरी आँखों के सामने नाच रहा है। इन मुक्ता बिन्दुओं के प्रेमबाण ने मुझे बेध दिया। मैं शुद्ध हो गया। इस प्रेम को तो अनुभवी ही जान सकता है।'[3] यह प्रसंग उदाहरण रूप में दिया गया। महात्मा गांधी तथा उनके पिताजी दोनों पक्ष इसमें हैं। दोनों के उद्वेग क्षमा के कारण धुल गये हैं और सन्बन्धों में सहजता आ गई है। इस प्रकार के प्रसंग सम्बन्धों को दृढ बनाते हैं किन्तु इसके साथ साथ आत्म परिष्कार भी होता है। इस आत्म परिष्कार से आत्मबल बढ़ता है। गांधीजी ने इस प्रसंग से जो पाठ सीखा, उस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है – 'मेरे लिए यह अहिंसा का पदार्थ-पाठ था। उस समय मैं तो उसमें सिवा पितृ-प्रेम के और कुछ न देख सका था, पर आज मैं उसे शुद्ध अहिंसा का नाम दे सकता हूँ। ऐसी अहिंसा के व्यापक रूप धारण कर लेने पर उसके स्पर्श से कौन अछूता रह सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसा की शक्ति की नाप-तोल करना अशक्य है। ऐसी शांत क्षमा पिताजी के स्वभाव के प्रतिकूल थी। मैंनें सोचा था कि वह क्रुद्ध होंगे, खरी-खोटी सुनावेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे। मैं समझता हूं कि उनके ऐसी अपार शांति रख सकने का कारण मेंरा दोष को स्पष्ट रूप से स्वीकर कर लेना था। अधिकारी के सामने जो आदमी स्वेच्छापूर्वक खुले दिल से और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा के साथ अपना दोष स्वीकर कर लेता है वह शुद्धतम प्रायश्चित्त कर लेता है। मैं जानता हूँ कि मेरे कबूल कर लेने से पिताजी मेरे विषय में निर्भर हो गये और उनका महान् प्रेम बढ़ गया।'[4] यह क्षमा की महिमा है। क्षमा से अहिंसा का पाठ पढ़ा जो सकता है।

क्षमा के लिए उद्वेगों के प्रति चिन्तन आवश्यक है। यह चिन्तन दोनों ही पक्षों से होता है। क्षमा माँगनेवाला तथा क्षमा करनेवाला दोनों ही जब चिन्तन करते हैं, तो उस चिन्तन में मूलतः एक ही बात प्रधान होती है और वह यह कि मनुष्य, मनुष्य है और मनुष्य से भूलें हो जाती हैं। यदि उद्वेगों को

---

३. सत्यके प्रयोग अथवा अतमकथा – महातमा गांधी. पृ. ४३ (बारहवाँ संस्करण १९६० ई०)

४. सत्य के प्रयोग अथवा आतमकथा – महातमा गांधी पृ. ४४ (बारहवाँ संस्करण); १९६० ई.

पहचान लिया गया है और अपराध के कारण यदि ज्ञात हैं और सब कुछ स्पष्ट है तो फिर दंड की आवश्यकता नहीं रह जाती है। समझदार के लिए 'क्षमा' सब से बडा दण्ड है।

यहीं पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या क्षमा में 'अपराध' की भावना रहने के कारण व्यक्ति इससे दुर्बल हो जाएगा या हीन-भावना व्यक्ति में उत्पन्न होगी ? बात यह है कि इस वृत्ति पर वैयक्तिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। अपराध-भावना यदि व्यक्ति के मन में घर कर ले तो इससे व्यक्ति को मानसिक व्याधि हो जाती है। इस विषय पर बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है --'पाप की भावना में हीनत्व के तत्त्व विद्यमान हैं और उसमें आत्मसम्मान का अभाव है। आत्मस·मान खो देने से मनुष्य का कभी कल्याण नहीं होता। विवेकशील व्यक्ति दूसरे लोगों के अवांछनीय कार्यों की तरह अपने कार्यों को भी परिस्थितियों का परिणाम समझेगा। उसकी दृष्टि में ऐसे कार्यों से बचने के दो ही उपाय होंगे; उनकी अवांछनीयता के पूर्णतर बोध के द्वारा अथवा यदि संभव हो तो उन परिस्थितियों के निवारण द्वारा जिनसे इन कार्यों की प्रेरणा मिली हो।''[५] कहना यह है कि अपराध–भावना यदि ग्रंथि रूप में स्थान ग्रहण कर ले तो इससे आत्मसम्मान में कमी आती है और व्यक्ति अकेला–अकेला रहने लगता है किन्तु यदि उक्त ग्रंथि के परिहार का प्रयास किया जाता है तो इससे (हीन भावना से) मनुष्य को छुटकारा मिलता है। महात्मा गांधी ने पत्र लिखकर पिता को सब कुछ सच सच बतला दिया। इससे उनके मन में ग्रंथि नहीं रही। पत्र लिखने से पूर्व उनमें मानसिक ग्रथि थी। यदि वे न बतलाते तो उससे उनके मन में हीनता की भावना बढ़ती। उन्होंने उससे मुक्ति पाई। इससे उनका आत्मबल घटा नहीं, अपितु बढ़ा है। अत: यह कहा जा सकता है कि क्षमा माँगने में अपराध की भावना को दूर करने का प्रयास है। 'अपराध की भावना' की पहचान तथा उसकी सामाजिक स्वीकृति दोनों ही क्षमा का वह पक्ष है जो मानवीय उद्वेगों को सहज बनाने में (मन की ग्रंथि से मुक्ति दिलाने में) सहायक हैं।

क्षमा करनेवाला जब यह जान जाता हे कि कुछ भी छिपाया नहीं गया ह और सब कुछ स्पष्ट है तो फिर वह दण्ड के आधार पर समस्या का निदान नहीं करता। इस स्थिति में क्षमा ही सब से बड़ा दण्ड है।

---

५. सुख की साधना–बर्ट्रेंड–रसेरल (अनुवादक : ख्वाजा बदीउज्जमा) पृ. ८६.

क्षमा का आधार विवेक हो तो उससे मानसिक स्वास्थ में वृद्धि होती है। इसमें दूसरों के साथ सहयोग की भावना है। सब से बडी बात तो यह कि आज की विषम परिस्थितियों में जब कि व्यक्ति अधिकाधिक आत्मकेंद्रित होता जा रहा है इस वृत्ति की आवश्यकता बढ़ रही है। समाज से हटकर व्यक्ति अपने को स्वतंत्र मानने लगे और अपने प्रयास से जीने का प्रयास करे तो उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसके सामने आदर्श जीवन का कोई रूप हो तो वह झुक सकता है किंतु जब व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि जिसके सामने जाकर वह अपनी भूल स्वीकार करें और अपराध के प्रति क्षमा मांगे, वह स्वयं उसकी दृष्टि में आदर्श नहीं है तो वह झुकने के लिए तैयार नहीं होता। पुत्र के मन में पिता के प्रति श्रद्धा भाव हो तब तो पुत्र पिता के सामने अपराध स्वीकार करेगा किन्तु यदि सामाजिक दृष्टि से आपसी सम्बन्धों में आदर्श ढह रहे हों तो फिर इस प्रकार की वृत्ति मनुष्य के मन में कैसे जाग सकती है ? यह आस्था का प्रश्न है। बात यह है कि सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा यदि समाज में है और उन मूल्यों के वाहक आदर्श पुरुष समाज में हैं तो उसका प्रभाव जनजीवन पर पड़ता है और लोग दौड़कर उनके पास पहुँचते हैं। श्रद्धा सामाजिक अनुभूति है। इसमें महत्त्व की स्वीकृति है। हम चाहते हैं कि समाज में कुछ लोग ऐसे हों जिनके प्रति श्रद्धा की भावना हमारे मन में हो। इस आधार पर ही संकट के क्षणों में हम उनके पास पहुँचकर अपनी वस्तुस्थिति से उन्हें परिचित कर सकते हैं तथा दिशानिर्देश पा सकते है। इस प्रकार के व्यक्तियों से क्षमा मांगने में संकोच भी नहीं होता। यह आवश्यक है कि जीने के लिए ऐसे आस्थावान पुरुषों की खोज की जाय।

प्रस्तुत में क्षमा को पारिवारिक संदर्भ में तथा उस वर्ग के संदर्भ में रखकर देखें जिससे व्यक्ति को नित्य प्रति सामना करना पड़ता है। परिवार के सदस्य सुख–दुख में अधिक सहायक होते हैं अतः इनके साथ जो सम्बन्ध रहता है वह अधिक लचीला और उन्मुक्त होता है। जहाँ वृत्तियों को मुखरित होने का अधिक अवसर मिलता है वहाँ वृत्तियों का परिष्कार 'क्षमा' वृत्ति के आधार पर सहज संस्कार के रूप में होता रहता है। बालक अपने माता–पिता की वृत्तियों को संस्कार रूप में ग्रहण कर लेता है। उसकी वृत्तियों का संस्कार माता–पिता द्वारा ही होता है। बालक तो कई प्रकार के अपराध करते हैं किन्तु माता–पिता सदैव बालक को क्षमा ही करते हैं। इस क्षमा में बालक की वृत्तियों का परिष्कार होता है। धीरे धीरे बालक अपनी बहुत सी वृत्तियों में माता-पिता का अनुकरण करना सीख जाता है और विशेष बात यह है कि माता–पिता की सहज मानवीय वृत्तियों को ही वह आदर्श मानकर

उनका अनुकरण करना उचित मानता है। माता-पिता के सहज और कृत्रिम व्यवहारों को वह पहचानता है और सहज वृत्तियों को ही आदर्श मानता है। पारिवारिक विघटन का कारण और-और समस्याओं के साथ साथ मूल्यों का विघटन भी है। जब परिवार का सदस्य परिवार के सीमित दायरे से निकल कर बाह्य समाज में प्रवेश करता है तो वहाँ उसे और प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वह जिस कार्यक्षेत्र को अपनी जीविका का आधार बनाकर कार्य करने लगता है (व्यवसाय आदि) उस कार्यक्षेत्र का समाज पारिवारिक समाज से भिन्न होता है। यदि व्यवसाय या कार्यक्षेत्र पारिवारिक ही रहता है (वंशानुगत ही है) तो उस स्थिति में पारिवारिक आदर्श अधिक काम आते हैं तथा घर के बडे लोगों के प्रति सम्मान की भावना बनी रहती है। इस स्थिति में सम्बन्ध दृढ़ रहते हैं। किन्तु कार्यक्षेत्र बदलने पर वैचारिक स्तर पर मतभेद हो जाते हैं। बात यह है कि बच्चों की शिक्षा में परिवार का कार्य घट गया है। बच्चे अब पाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं। अनेक वैज्ञानिक साधन आज शिक्षा के लिए प्रयोग में लाए जा रहे हैं। इन सब का प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। अतः कोरी आदर्शवादी और रूढिगत नैतिकता को बच्चा स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। परिणाम यह हो रहा है कि एक पीढ़ी, दूसरी पीढी को मानने के लिए तैयार नहीं है। फलस्वरूप अराजकता फैल रही है। यह अराजकता परिवार में है तथा परिवार से बाहर भी है। विशेष रूप से आज के शिक्षा-संस्थानों में भी अराजकता के दृश्य अधिक देखने में आ रहे हैं। यह विश्व-व्यापी समस्या है। ऐसे समय में क्षमा की चर्चा की जाए तो उसकी उपेक्षा करना या उसके प्रति अनास्था व्यक्त करना सरल बात है। यह वस्तुस्थिति है। इस वस्तुस्थिति से छुटकारा पाने के लिए सामाजिक चिन्तन में परिवर्तन की आवश्यकता हैं। ऐसी परिस्थितियों में रहते हुए भी व्यक्ति यदि चिन्तन के स्तर पर क्षमा वृत्ति को अपनाए तो इससे व्यक्ति को मानसिक मुक्ति मिल सकती है।

अब प्रश्न यह है कि चिन्तन के स्तर पर इस वृत्ति को कैसे अपनाएँ? अपने स्तर पर अर्थात् व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्ति यदि यह विचार करे कि उसका अपना कार्य तथा व्यवहार किस प्रकार है तो इससे वह अपने आपको ठीक करना सीख सकता है। व्यक्ति यदि चाहे कि उसमें मानसिक द्वन्द्व न हो तो उसे उद्वेगों का परिष्कार करना होगा। यह परिष्कार उद्वेगों के प्रति चिन्तन करने से ही हो सकता है। व्यक्ति मानसिक रूप में अखण्ड रहना चाहता है। मानसिक रूप में जो अखण्ड है, वह शान्त तथा सुखी है अर्थात चेतन, अवचेतन

या अचेतन रूप में वह एकता के सूत्र में है। चेतन और अवचेतन में भेद है तो फिर मनुष्य अशांत है। हम मान लेते हैं कि समाज में सब लोग अनैतिक हैं और झूठ का व्यवहार हो रहा है और हम ही सच हैं। किन्तु ऐसा मान लेने मात्र से तो समस्या का निदान होता नहीं। यह मानने के लिए व्यक्ति में निज का कोई नैतिक आधार चाहिए। उसके अपने आस्था के विषय कम से कम उसके प्रति स्पष्ट हों। जब व्यक्ति अपने प्रति स्पष्ट नहीं है तो वह दूसरों के सम्मुख अपनी बात को स्पष्टता के साथ कैसे कह सकता है? समाज में आज जो भी स्थायी तत्त्व हैं, जिसके कारण समाज का अस्तित्व बना हुआ है, वह तत्त्व नैतिक है। उस तत्त्व को यथार्थ के स्तर पर स्वीकार करने से तथा उन नैतिक तत्त्वों को पहचानने से ही व्यक्ति सामाजिक सम्पर्क बनाए रखने में समर्थ हो सकता है। यों कहिए कि इन तत्त्वों को पहचानने के लिए समाज का अध्ययन यथार्थ के धरातल पर आवश्यक है। प्रस्तुत म इस विस्तार में न जाते हुए इतना ही कहना अपेक्षित है कि अपने को पहचानने के साथ साथ अपने आस पास के समाज को भी (परिवार तथा व्यावसायिक क्षेत्र आदि) पहचानना आवश्यक है। इस पहचान में मनुष्य के मन में द्वन्द्वात्मक स्थिति का निर्माण हो तो उसके परिहार के लिए प्रयास आवश्यक है। यदि सामाजिक संगठन के रूप में सब एक मंच पर आएं और क्षमा को मानवीय धर्म का लक्षण मानकर चलें तो इससे मानव का मन सन्तुलित हो सकता है।

क्षमा के साथ अहिंसा और प्रायश्चित दोनों तत्त्व जुडे हुए हैं। अहिंसा प्रधान रूप से क्षमा करनेवाले का प्रमुख गुण है। सभी प्रकार से समर्थ होने पर और दण्ड देने का अधिकारी होने पर भी यदि कोई 'क्षमा' कर देता है तो वह अहिंसा की वृत्ति को ही अपनाता है। दण्ड दे सकता है किन्तु दण्ड देता नहीं––यही तो क्षमा है और वह अहिंसा का भाव है। क्षमा करनेवाला अहिंसा को परमधर्म मानता हे। इस आधार पर ही वह हृदय परिवर्तन करने में समर्थ हो सकता है। ठीक इसी तरह क्षमा माँगनेवाला प्रायश्चित करता है। अर्थात् वह अपने अपराध–भाव को स्वीकार करता है। इस स्वीकृति में प्रायश्चित्त का भाव रहता है। प्रायश्चित्त में मानसिक रूप से यह निर्णय कर लिया जाता है कि उचित क्या है ? अर्थात् व्यक्ति अपने उद्वेगों को सामाजिक संदर्भ मे सोचता है तथा अनुचित व्यवहारों के प्रति क्षमा चाहता है। क्षमा चाहनेवाला एक प्रकार से प्रायश्चित्त ही करता रहता है।

आज की विषम परिस्थितियों में मानव यदि अपने उद्वेगों पर चिन्तन करने की दिशा में प्रवृत्त हो और इस आधार पर यदि अपने साथ साथ अपने

आसपास के समाज को भी पहचानने का प्रयास करें तो वह अपना आत्मबल तथा मनोबल बढ़ा सकेगा। इसके लिए उसे मानव धर्म की मूल वृत्ति के रूप में क्षमा को अपनाना अधिक हितकर होगा। इस वृत्ति को अपनानेवाला आत्महत्या नहीं करेगा। उसे विश्वास के आधार प्राप्त हो सकते हैं और इस तरह खण्डित व्यक्तित्व को अखण्डित बनाने में उसे सहायता मिल सकती है। जीवन मूल्यवान है और उसे सार्थक बनाने के लिए विश्वास के स्रोत चाहिए। सामाजिक रूप में व्यक्तिं यदि प्रतिष्ठित होना चाहे और अपने तक सीमित न रहना चाहे तो उसे क्षमा वृत्ति अपनानी ही होगी। इस आधार पर ही उसे समाज से विश्वास के स्रोत मिल सकते हैं।

○ ○

शान्ति

शान्ति भय और आशंका से रहित मानसिक स्थिति है। शान्ति के लिए भयमुक्त होना आवश्यक है। शान्ति का चरम विरोध युद्ध से है। युद्ध में सर्वनाश होता है। बात यह है कि युद्ध काल में आवेग जाग्रत ही नहीं रहते अपितु कार्यरत रहते हैं और बल का प्रदर्शन व्यवहार में होता है। अतः मनुष्य के आवेग और तदनुसार समूह तथा वर्गों के आवेग नियंत्रण में रहें और इस नीति को मानकर चले कि युद्ध का परिणाम भयंकर होता है, तो शान्ति के लिए प्रयास किए जा सकते हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र मनुष्य है और सबसे बडा शत्रु भी मनुष्य ही है। यदि युद्ध से बचना है और शान्ति से रहना है तो आज सब से बडी आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के आवेगों का अध्ययन वैज्ञानिक धरातल पर हो और आवेगों को नियंत्रण में रखने के मार्ग खोजे जाएँ। यह व्यक्ति के धरातल पर भी हो। व्यक्ति के आवेग से समूह का आवेग या वर्ग–विशेष का आवेग अधिक बलवान है। युद्ध में आवेग टकराते हैं और संघर्ष होता है। इस स्थिति से बचने के लिए आवेगों को पहचानना तथा उनको विवेक के आधार पर नियंत्रित रखना आवश्यक है।

युद्ध मे आवेग टकराते हैं। जब तक इन आवेगों को शांत नहीं किया जाए, तब तक शान्ति स्थापित नहीं होती। प्रश्न यह है कि इन आवेगों के

क्षणों में बुद्धि का उपयोग कैसे किया जाय ? युद्ध के क्षणों में बुद्धि मारी जाती है । जिसकी बुद्धि साथ नहीं देती, उसका सर्वनाश होता ही है। व्यक्ति के आवेग से समूह या समुदाय या वर्ग का आवेग अधिक महत्त्वपूर्ण है । दो व्यक्ति के आवेग आपस में टकराएँ तो यह लड़ाई दो व्यक्तियों के बीच की होगी । यदि समूह इन दो व्यक्तियों की उपेक्षा कर दें तो यह लड़ाई उन दोनों तक ही सीमित रहेगी । किंतु यदि यह लड़ाई उन दोनों के वैयक्तिक टकराव को सामूहिक आवेग के रूप में ग्रहण करे तो फिर स्थिति जटिल हो जाएगी । दो समूह यदि टकराएंगे तो परिणाम और भयंकर होगा। बढ़ते–बढ़ते यह स्थिति राष्ट्रों तक या देशों तक पहुँचती है और इसमें तटस्थ रहना कठिन हो जाता है । शान्ति, सब चाहते हैं किन्तु स्थिति जब एक बार उलझ जाती है तो उसमें से मार्ग निकालने के लिए सद्प्रयास की आवश्यकता है। इस समय विश्व के सामने तीसरे विश्वयुद्ध से बचने का जो प्रश्न है, वह विवेक की प्रतीक्षा में है । सद्सद्विवेक के आधार पर ही शान्ति के लिए प्रयास किए जा सकते है ।

युद्ध के कारणों का ज्ञान इतिहास के अध्ययन से होता है । अतः यदि हम चाहते हैं कि युद्ध न हो तो इतिहास के अध्ययन को आधुनिक ज्ञान की उपलब्धियों के संदर्भ में प्रस्तुत करना तथा युद्ध की आशंका से सब को अवगत करना आवश्यक है । कोई भी युद्ध, यों ही नहीं हो जाता । उसकी जड़ें इतिहास में होती हैं । यदि युद्ध के कारण ज्ञात हो जाते हैं, तो फिर युद्ध होने से पूर्व ही उन कारणों पर विवेक के आधार पर विचार किया जा सकता है । इन विचारों का फिर प्रचार कर युद्ध के आवेग को शान्त किया जा सकता है । स्थिति उलझने से पूर्व स्थिति का अध्ययन निश्चित ही सहायक होता है ।

प्रस्तुत में विश्व–युद्ध के कारणों पर विचार नहीं करना है, अपितु व्यक्ति के संदर्भ में ' शान्ति ' पर विचार करना है। आज का व्यक्ति समूह के आवेगों से तथा समुदाय के आवेगों से त्रस्त है । वह अपने प्रति भयभीत है । वह जानता है कि समूह या समुदाय से लड़ने की उसमें शक्ति नहीं है इस संदर्भ में यदि ' शान्ति ' पर विचार करें तो व्यक्ति का विश्लेषण सामाजिक मूल्यों कें संदर्भ में करना होगा ।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री ईमाइल दुर्खीम ने आत्महत्याओं के कारणों की खोज की है और उसका कहना है कि युद्धकाल में आत्महत्याएं कम होती हैं किन्तु शान्तिकाल में इसकी संख्या बढ़ जाती है । युद्ध इसलिए होता है कि लोग शान्ति के इच्छुक नहीं होते, इसलिए इच्छुक नहीं होते कि

जीवन ऊबा हुआ लगता है। ऊब के कारण अनास्था, निराशा घुटन आदि से व्यक्ति घिर जाता है। इन जटिल परिस्थितियों से छुटकारा युद्ध से मिलता है। युद्ध के दिनों में व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ अधिक सक्रिय और गतिशील होती हैं। जब कि शान्ति के समय वे इसके विपरीत स्थिति में होती हैं। यह परिस्थिति व्यक्ति को आत्महत्या के लिए विवश करती है। युद्ध के दिनों में छोटा सा कार्य भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है और उस कार्य के महत्त्व को आंका जाता है।

व्यक्ति रूप में शान्ति की समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य से है। जो व्यक्ति अशान्त है, उसे सुख कहाँ? गीता में इस स्थिति का विश्लेषण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते । ६२ ।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति । ६३ ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति । ६४ ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते । ६५ ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् । ६६ ।

——गीता, दूसरा अध्याय ।

पुरूष जब विषयों का (इन्दियों से सम्बन्धित) ध्यान करता है, तो उसकी आसक्ति विषयों से होती है और इस आसक्ति के कारण तत् तत् विषयजन्य कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। इन कामनाओं की पूर्ति में बाधा हो तो क्रोध का उद्भव होता है। क्रोध से मोह होता है और मोह से स्मृतिभ्रम होता है और जिसकी स्मृतिनष्ट हो गई उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। अंततः बुद्धि के नाश हो जाने से (सद्सद्विवेक बुद्धि न रहने के कारण) सर्वनाश होता है। किन्तु जिस व्यक्ति का नियंत्रण अपनी आत्मा पर है, वह राग और द्वेष से छूटा हुआ है और अपनी इन्द्रियों का स्वाधीन भाव से आचरण करते हुए प्रसन्न चित्त रह सकता है। जिसका चित्त प्रसन्न होता है, उसकी बुद्धि भी स्थिर रहती है। (तत्काल स्थिर हो जाती है) जो पुरुष इस प्रकार से योगयुक्त नहीं होता अर्थात् जिसकी

बुद्धि स्थिर नहीं रहती और भावना (दृढ़बुद्धिरूप निष्ठा से युक्त भावना) भी योगयुक्त नहीं वह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता और जिसे शान्ति नहीं (अशान्त अवस्था में जो है) उसे सुख कहाँ ?

गीता की ये पंक्तियाँ बहुत गंभीर अर्थ रखती हैं और इनका मोल सदैव बना रहेगा। शान्ति के लिए चित्त प्रसन्न रहना आवश्यक है। जो प्रसन्न होगा उसकी बुद्धि तत्काल स्थिर हो जाएगी। बुद्धि वस्तुतः ज्ञान का उपयोग है। जो हम जानते हैं, उसका उचित और उत्तम उपयोग करना बुद्धि है। जो हम जानते हैं, उसको ही भूल जाएं (स्मृति नाश के कारण) तो बुद्धि का नाश होना ही है। अतः शान्ति के लिए चित्त को प्रसन्न रखना परम आवश्यक है। आवेगों में बहने से यह सब होता है। आवेगों का दास हो जाने से अशान्ति प्राप्त होती है।

व्यक्ति रूप में शान्ति की समस्या पर विचार करते हुए प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों पर विचार किया जा सकता है। शान्ति प्रवृत्ति में है या निवृत्ति में ? गीता की उपर्युक्त पंक्तियों का अर्थ दोनों दृष्टियों से किया जा सकता है। विशेष रूप से धर्म में विश्वास रखनेवाले लोग इन पंक्तियों का अर्थ निवृत्ति के रूप में करते हैं। किन्तु इन पंक्तियों का अर्थ प्रवृत्ति के रूप में भी किया जा सकता है। मैं यहाँ पर इन पंक्तियों को प्रवृत्ति के रूप में ही ले रहा हूँ। 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु' का अर्थ प्रवृत्ति के रूप में यदि लिया जाएगा तो इसका अर्थ होगा, राग तथा द्वेष से आत्मा को स्वतंत्र रखते हुए, (व्यक्ति—उसकी आत्मा—राग तथा द्वेष से आबद्ध होकर आवेग में बह न जाए)' विषयानिन्द्रियैश्चरन' विषयों में इन्द्रियों का विचरण होने की स्थिति में, आत्मा को अपने वश में रखे 'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा' तो उसका चित्त (इन्द्रियों का विषयानुरूप आचरण करते हुए भी) प्रसन्न रह सकता है। यहाँ प्रवृत्ति का संबंध 'विषयानिन्द्रियैश्चरन्' से है; आचरण से (कर्म) छुटकारा नहीं है। जो दर्शन कर्म से छुटकारा चाहे, वह निवृत्तिमूलक दर्शन है। कर्म करते हुए भी (कर्म से किसी को मुक्त नहीं मानना चाहिए) आत्मा को स्वतंत्र रखें और विषयों में आबद्ध न हों तो प्रसन्न रहा जा सकता है। गीता में 'प्रसाद' शब्द का प्रयोग है। 'प्रसादमधिगच्छति'। प्रसाद का अर्थ हम चित्त के प्रसन्न रहने से लेते हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता से भी व्यापक है। प्रसन्नता यथार्थ में प्रसाद का परिणाम है। जिसकी आत्मा अपने वश में है, वह सुख दुःख से प्रभावित नहीं होता। वह समभाव से सुख तथा दुःख दोनों को प्रसाद मानता है। प्रसाद में,

स्थिति का स्वीकार है। यह स्वीकार समभाव से है। प्रसाद का अर्थ जो कुछ घटित हो रहा है या प्राप्त है' उसको समभाव से सहज रूप में स्वीकार करना है। प्रसाद रूप में स्वीकार करने पर सब दुःखों का नाश होता है और दुःखों का नाश होने से प्रसन्नता प्राप्त होती है और प्रसन्नता प्राप्त होने से तत्काल बुद्धि स्थिर हो जाती है। अस्तु।

गीता की इन पंक्तियों का विस्तार से अर्थ लिखने का कारण यह है कि शान्ति प्राप्त करने के लिए प्रसन्नता (प्रसन्न चित्त रहनेवाला स्वभाव) को शील रूप में अपनाना आवश्यक है। श्रीराम का मुखाम्बुज इस शील से युक्त गोस्वामीजी ने दिखलाया है। कहा है :—

> प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
> मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा। २।
>
> – अयोध्याकाण्ड, श्लोक संख्या। २।

इस प्रसन्नता में निवृत्तिमूलक भावना नहीं हैं। हम चाहते हैं कि हमारी बुद्धि स्थिर रहे तथा उससे आवेगों को दिशा मिले। बुद्धि के स्थिर रहने पर ही शांति के उपाय खोजे जा सकते हैं।

स्पिनोजा ने भी बुद्धि के नेतृत्व में जीने की बात कही है। वह लिखता है:—

> 'वे लोग जो आत्महत्त्या करते हैं शक्तिहीन आत्मा हैं, और वे उन कारणों से शासित होने पर राजी हो जाते है, जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल हैं... हम कभी यह नहीं कर सकते कि हमें अपनी रक्षा के लिए अपने से बाहर किसी वस्तु की आवश्यकता न हो, और अपने जीवन के लिए बाहरी पदार्थों से संसर्ग की आवश्यकता न हो। इसके अतिरिक्त, यदि हम अपने मनों पर दृष्टि डालें, तो हमारी बुद्धि अधिक अपूर्ण होगी यदि मन अकेला होता और अपने सिवाय कुछ न समझता। इसलिए बहुतेरी वस्तुएं हमारे बाहर हैं जो हमारे लिए अति लाभ-दायक हैं और इसलिए जिनकी इच्छा करनी चाहिए। इनमें कोई भी उनसे उत्कृष्ट नहीं समझी जा सकती जो हमारी प्रकृति के अनुकूल है। क्योंकि (उदाहरण के लिए) यदि एक ही प्रकृति के दो मनुष्य मिल जाएँ तो उनके मिलाप से ऐसा व्यक्ति प्रकट होगा जो उनमें किसी एक से दुगुना बलवान है, इसलिए मनुष्य के लिए मनुष्य से लाभकर

कोई वस्तु नहीं। मैं कहता हूँ कि अपनी रक्षा के लिए मनुष्य इससे अधिक श्रेष्ठ वस्तु की इच्छा नहीं कर सकते कि सभी सभों के लिए इतने अनुकूल हों कि सबके मन एक–मन और सबके शरीर एक-शरीर बन जाएँ, और सभी एक साथ यथासंभव अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने का यत्न करें, और सभी एक साथ उसकी खोज करें जो समूह की स्थिति में सब के लिए हितकर है। इसका परिणाम यह है कि जो लोग बुद्धि के शासन में होते हैं, अर्थात् जो बुद्धि के नेतृत्व में, उसकी खोज करते हैं जो उनके लिए हितकर हैं, वे अपने लिए किसी ऐसी वस्तु की इच्छा नहीं करते जिसकी इच्छा दूसरे मनुष्यों के लिए नहीं करते, और इसलिए वे निष्पक्ष, वफादार और आदरणीय होते हैं।'[1]

यह स्थिति आदर्श है। शान्ति के लिए व्यक्ति रूप में इसी तरह के प्रयास हों। अशांत व्यक्ति या तो समाज से लड़ेगा या अपने आप से लड़ेगा। अपने आप से लड़ने का अन्तिम परिणाम आत्महत्या है और यह कार्य प्रकृति के प्रतिकूल है।

जगत् में किसे अपनाएँ और किसे त्यागें? यह समस्या सब के सामने है। अपनाने में प्रवृत्ति है और त्यागने में निवृत्ति है। संसार को दुःखमय मानना और दुःख से निवृत्ति के लिए निवृत्तिमूलक दर्शन में विश्वास रखना तथा यह समझना कि निवृत्तिमूलक दर्शन में विश्वास करने से अध्यात्मक का बोध हो जाएगा तथा शान्ति प्राप्त होगी, एकांगी दृष्टिकोण होगा। भारतवर्ष में शिक्षा के प्रचार तथा प्रसार के कारण निवृत्तिमूलक दर्शन का कुछ अंश तक ह्रास हुआ है। किन्तु अब भी देश का बहुत बड़ा भाग इस प्रकार के दर्शन में विश्वास करता है। इस सम्बन्ध में रसेल ने सटीक ढंग से लिखा है :—

> 'जिन देशों में निवृत्ति और ऐसे जीवन दर्शन पर विश्वास किया जाता है जिसे गलती से आध्यात्मिक समझ लिया जाता है उनम बच्चों की मृत्यु–दर बहुत अधिक है। चिकित्सा, आरोग्य, रोग के कीटाणुओं से मुक्ति, युक्ताहार––ये सब तभी संभव है जब संसार के विषय में सोच–विचार किया जाये। इनके लिए ऐसी शक्ति और बुद्धि की आवश्यकता है जिनका उपयोग भौतिक परिवेश के लिए हो। जो

---

१. स्पिनोजा : नीति, अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द, पृ. १८५–१८६.

पदार्थ को भ्रम समझते हैं वे गन्दगी के बारे में भी यही सोच सकते हैं और इस प्रकार वे अपने बच्चों की मृत्यु का कारण बन सकते हैं।'[२]

शान्ति का आधार निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों हैं। हमारी निवृति आशा तथा विश्वास पर आधृत हो तो हम निर्वैयक्तिक भाव से अपने कार्य में रत रह सकते हैं। निवृत्ति का अर्थ आवेगों का दास न बनने से लेना चाहिए। आवेगों पर बुद्धि का नियंत्रण रहे तो फिर जीवन आशाप्रद हो सकता है।

शान्ति के लिए प्रयास अंततः व्यक्ति-रूप में ही करना होगा। बुद्धिमान लोग ही इस दिशा में सद्‌प्रयास कर सकते हैं। इस शताब्दी में महात्मा गान्धी, बर्ट्रेंड रसेल जैसे व्यक्तियों ने शान्ति के लिए प्रयास किया है। उनकी सेवाओं को विश्व भूल नहीं सकता। ऐसे और भी अनेक व्यक्ति, हैं, जो शान्ति के लिए प्रयास कर रहे हैं। यह ठीक है कि आज व्यक्ति को समूह तथा वर्ग के आवेगों का सामना करना पड़ रहा है और समूह के सामने व्यक्ति कमजोर है अतः भयभीत है। इस पर भी व्यक्ति यदि समूह के आवेगों का तथ्यमूलक अध्ययन करें तो निश्चित ही शान्ति के उपाय विवेक के आधार पर खोज सकता है।

O O

२. सुख की साधना, बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक: ख्वाजा बदीउज्जमां, पृ. २०२.

...और अन्त में

पुस्तक का नाम 'संवेदना के स्तर' रखा गया है । अतः पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है । पुस्तक में कुल १४ निबन्ध हैं और मान लो तो यह पन्द्रहवाँ है । ये सभी निबन्ध एक समय में लिखे गये हैं, ऐसी बात नहीं । इन निबन्धों को लिखते समय यह नहीं सोचा गया था कि अंततः उन्हें पुस्तक का यह रूप प्राप्त होगा । मेंरा प्रथम प्रकाशित निबन्ध '**परिवर्तन**' (**हिन्दी मिलाप**, साप्ताहिक संस्करण, हैदराबाद, २६ जुलाई १९५३ ई०) इस पुस्तक में सम्मिलित हैं। और तब से अद्ययावत १९७५ ई० में लिखे गये निबन्ध भी इसमें हैं। पुस्तक के कुछ और भी निबन्ध प्रकाशित हुए ह । 'अभिरुचि' निबन्ध, १० फरवरी १९७१ ई० को औरंगाबाद के रोटरी क्लब में पढ़ा गया और यह बाद में **जैन सन्देश** (महावीर जयंती अंक), हैदराबाद में २७ मार्च १९७२ ई० में प्रकाशित हुआ। '**संत्रास**' निबन्ध 'संत्रास जनित स्थितियाँ : एक विश्लेषण' शीर्षक से '**हिन्दी विद्यापीठ पत्रिका**' देवधर, बिहार, वर्ष १, अंक २, नवम्बर १९७३ ई० में प्रकाशित हुआ है। '**हँसना**' निबन्ध, २३, मार्च १९७५ के **दिनमान** में प्रकाशित 'हँसने का सामान' (विनोद भारद्वाज द्वारा लिखित टिप्पणी की प्रतक्रिया में लिखा गया । इस निबन्ध का कुछ अंश १३ अप्रैल १९७५ के **दिनमान** के अंक में प्रकाशित हुआ है । '**भक्ति**'

निबंध '**प्रकाशित मन**' जुलाई ७५ के अंक में 'भक्ति : आधुनिक संदर्भ में' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

'**हम तनावों में जीते हैं**' कविता १९६९ ई० में लिखी थी। 'तनाव' निबन्ध का बाकी अंश पुस्तक की योजना बनने के बाद लिखा गया ह। पुस्तक का यह प्रथम निबन्ध है। '**ऊब**' निबन्ध १९६३ ई० में, '**भूलना**' तथा '**उपेक्षा**' निबन्ध १९७३ ई० में लिखे गए हैं। बाकी सारे निबन्ध पुस्तक की योजना बनने के बाद और इस वर्ष में (१९७५ ई० में) लिखे गये हैं।

मनुष्य संवेदनशील प्राणी है। हमारी संवेदनाएँ हमारे अपने प्रत्यय बोध पर निर्भर हैं। जगत् के सम्बन्ध नें हमारा ज्ञान जिस कोटि का होगा, उसी आधार पर हममें संवेदन–क्षमता आएगी। संवेदनाएँ ज्ञान प्राप्ति का प्रत्यक्ष स्रोत ही नहीं अपितु ज्ञान–प्राप्ति की यांत्रिक प्रक्रिया भी है। जब हम संवेदना की प्रक्रिया से गुजरते हैं, उस समय हमारे संस्कार जागते हैं और संवेदना की उस प्रक्रिया कें प्रति हमें सजग करते हैं। संस्कार, वस्तुत: पूर्वानुभूत संवेदनाओं के आधार पर ज्ञान की अभ्यासगत धारणा है। इन संस्कारों के बल पर हमें विचारों को स्थिर रूप देना आता है, हममें निर्णय–शक्ति आती है तथा हमारे भावों को इनसे बल प्राप्त होता है। हमारी इच्छा–शक्ति भी हमारे संस्कारों से बल ग्रहण करती है। ये संस्कार संवेदनाओं के आधार पर बनते है।

मनुष्य जब भी नई स्थिति का सामना करता है, साक्षात्कार का कोई नया प्रसंग होता है या और कोई नई बात हो तो उसको संवेदना की ऐसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, जिसका उसने पहले अनुभव न किया हो। ऐसे समय में वह अपनी ज्ञान–शक्ति का उपयोग (संस्कारों के आधार पर) करता है और अपने पूर्व–संस्कारों को संस्कारित करता है। यह प्रक्रिया जारी रहती है। इस प्रक्रिया का प्रभाव हमारे उद्वेगों पर (या आवेगों पर) पड़ता है। हमारी मनोवृत्ति इन सवेदनाओं से दिशा ग्रहण करती है। जब भी हम संवेदनशील होते हैं तब अनुभव की स्थिति से गुजरते रहते हैं। इस गुजरने में हमारा ज्ञान सजग रहता है और स्थिति से साक्षात्कार होता रहता है। यों कहिए कि सवेदनशील स्थिति में हमारा ज्ञान कसौटी पर होता है। संवेदना के क्षण ज्ञान के साधनों के सजग रहने के क्षण हैं और साथ ही इन क्षणों में ज्ञान की परीक्षा भी होती रहती है। ज्ञान को बुद्धि में बदलने का कार्य संवेदना ही करती है। संक्षेप में बुद्धि का विकास संवेदनाओं के आधार पर होता है।

तनाव से शान्ति तक लिखे गये निबन्धों में संवेदना के स्तर हैं। निबंधों के शीर्षक मनोवृत्तियों तथा मानसिक प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। इन शीर्षकों पर निबन्ध लिखते समय व्यक्ति-रूप में ही विचार किया है। निबन्धों में व्यक्ति के आवेग को अधिक ध्यान में रखा गया है। जब कोई मनोवृत्ति हमें आक्रांत कर लेती है, तो उसमें व्यक्ति पर समाज का प्रभाव व्याप्त रहता है। निबन्ध लिखते समय मनोवृत्ति को या मानसिक प्रवृत्ति को, जिसका प्रभाव मन पर व्याप्त रहा है, मैंने अपनी जानकारी के आधार पर पहचानने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में मुझे अनेक विचारकों, चिन्तकों तथा महान् प्रतिभाओं का सहयोग मिला है और मैंने इन सब का यथास्थान उपयोग किया है। अध्ययन करते समय मैंने यह अनुभव किया कि जिन विषयों पर (मनोवृत्तियों पर) मैं निबन्ध लिख रहा हूँ, उस विषय पर महान् प्रतिभाओं ने विस्तृत रूप में विचार किया है। निबन्ध ही नहीं, पुस्तकें तक इन विषयों पर लिखी गई हैं। मेरे लिखे हुए निबंध तो बहुत छोटे हैं। इनमें विषय के पहचान की अपेक्षा विषय का प्रभाव अधिक मिल सकता है। और फिर ये संवेदना के स्तर हैं। आवेगों पर या मनोवृत्तियों पर चिन्तन करना संवेदना की प्रक्रिया से गुजरना है। और जैसे कि मैंने ऊपर ही कहा है हमारी संवेदनाएं, हमारे अपने प्रत्यय बोध पर निर्भर हैं। जगत् के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान जिस कोटि का होगा, हममें संवेदन-क्षमता भी उसी कोटि की होगी। मैंने इन निबन्धों में शीर्षकानुसार अपने को अपने सीमित ज्ञान के आधार पर पहचानने की कोशिश की है ' **परिवर्तन** ' निबंध में स्कूली जीवन से कालेजी जीवन में प्रवेश करने के बाद जो झटका लगा, उसकी आवेगमय झलक को अभिव्यक्ति मिली है। मैं वही हूँ और बदला हुआ हूँ। यह सुखद-संवेदना है। इस सुखद-संवेदना का मुखरित चिन्तन निबन्ध में है। ' **ऊब** ' निबन्ध तिरुपति (१९६६ ई.) में लिखा गया और उन दिनों में लिखा गया जब मुझे बहुत दिनों तक अकेले रहना पड़ा। पी-एच. डी. के बाद रिक्तता का अनुभव हो रहा था और कोई योजना आगे नहीं थी। ' **संत्रास** ' निबन्ध, मन की संत्रस्त परिस्थितियों में उस समय लिखा गया जब मन बाह्य वातावरण से आक्रान्त हो गया था और भयमुक्त होने के लिए विश्वास के आधारों की खोज में था। इस तरह प्रत्येक निबंध के पीछे कोई न कोई कारण है। ' **आश्चर्य** ' निबंध लिखने का कारण बच्चों का सरकस देखना है। बच्चों में ' **आश्चर्य** ' की वृत्ति को देखकर मैंने सुखद-संवेदना का अनुभव किया। मुझे भी अपने भीतर इस वृत्ति को जगाने की इच्छा हुई। डॉ. भीमसेन निर्मल ने भगवान महावीर के २५०० वे महानिर्वाण के अवसर पर प्रकाशित होनेवाले विशेषांक के लिए लेख मांगा, मैंने ' **क्षमा** ' निबन्ध इसी हेतु लिखा। इस बार १७ अप्रेल १९७५ को सीतामऊ

शोधकार्य के निमित्त गया। सीतामऊ, मन्दसौर होते हुए जाना पड़ता है। मन्दसौर में डॉ. महेंद्र भटनागर से भेंट हुई। श्रीरामचरितमानस चतुःशताब्दी समारोह, जिला समिति मन्दसौर का समापन समारोह, रामनवमी, २० अप्रेल १९७५ ई० को था। यह समारोह टाउन हॉल में था। डॉ. भटनागर ने मुझसे मानस पर कुछ कहने के लिए कहा। उक्त समारोह में सम्मिलित हुआ। जो कुछ सोच पाया और कह पाया, उसी को बाद में शील निबन्ध के रूप में लिखा। गरज यह कि निबन्ध के लिखने में कोई–न–कोई कारण अवश्य है।

इन सब निबन्धों को एक साथ इस पुस्तक में रखते समय मैंने यह अनुभव किया कि ये सभी निबन्ध संवेदना के स्तरों को व्यक्त करते हैं। मैंने, निबन्ध लिखने का चाहे जो कारण रहा हो या प्रयोजन रहा हो, विषय को पहचानने की कोशिश की है और उस विषय का मानस पर व्यक्ति–रूप में जो प्रभाव रहा है, उसको व्यक्त किया है। ये निबन्ध मनोविज्ञान के निबन्ध नहीं हैं। क्योंकि इन निबन्धों में किसी वृत्ति का परीक्षणात्मक तथा वस्तुमूलक अध्ययन नहीं है। ये निबन्ध व्यक्ति की संवेदना के स्तर को (किसी विषय पर सोचने की क्षमता को) व्यक्त करते हैं।

एक बात और। निबन्धों के लेखन में मैंने 'शुभ' का ध्यान रखा है। 'अशुभ' चिन्तन से बचने का मैंने सतर्कता से सदैव प्रयास किया है। नकारात्मक स्थितियों से बचकर सकारात्मक स्थितियों पर विचार किया है। अशुभ चिन्तन से लाभ नहीं होता। शुभ चिन्तन निश्चित ही लाभदायी होता है। मैंने ऊब तथा उपेक्षा जैसे निबन्धों के शुभ पक्ष पर ही सोचा है। मानसिक यातना इस जगत् में सब को सहनी पड़ती है। इस यातना से कौन बच सकता है ? किन्तु यातना के कारणों को पहचान कर उसके शुभ पक्ष पर विचार करें तो यातना से मुक्ति मिलती है। मैंने इन निबन्धों के लिखने के बाद यातना से मुक्ति का अनुभव किया है। मानसिक तनाव को शान्ति में (सहज जीवन में) बदलने के हम सब इच्छुक हैं। इस प्रयास में ये निबन्ध लिखे गये हैं। सफलता कितनी मिली यह मैं कैसे कहूँ ? तुलसी के मानस ने मुझे सदैव अशुभ से शुभ की ओर जाने के लिये प्रेरित किया है। सोचता हूँ कि जगत् को मानस-पीयूष देनेवाले तुलसी के घट में हलाहल का कितना मन्थन हुआ होगा। कल्पना करना कठिन है। पर सब कुछ पीकर 'मंगल भवन, अमंगल हारी' मानस ही तो तुलसी ने हम सब को दिया है। तुलसी की तरह इधर स्पिनोजा की 'नीति' पुस्तक ने भी मुझे प्रभावित किया है। मानसिक वृत्तियों को रेखागणित के ढंग पर,

तर्कपूर्ण ढंग से—प्रमेय, साध्य तथा सिद्धि के रूप में—समझाने का प्रयास स्पिनोजा का है। मैंने स्पिनोजा से भी आस्था ग्रहण की है।

अन्त में एक बात और कहना चाहूँगा और वह यह कि '**और अन्त में**' लिखने की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी यह इसलिए लिख दिया, जिससे निबन्धों का तारतम्य स्पष्ट हो और पुस्तक की योजना तथा हेतु को व्यक्त कर सकूँ और फिर यह—'**और अन्त में**' ही तो है। कोई पढे या न पढे, पाठक यदि कुछ अतिरिक्त रूप में पूछना चाहें, तो यह समाधान है।

○ ○